Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लेखक की रोटी

मंगलेश डबराल

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

क्या ही अच्छा होता है कि लेखक अपने रचनात्मक लेखन से ही जीवन यापन भी कर पाता। उसे रोज़ीरोटी के लिए चपरासीगीरी, बाबूगीरी या अख़बारी या अन्य कोई नौकरी न करनी होती और साधारण जन के जिस समाज को वह संबोधित है वहीं से उसे भौतिक और आत्मिक पोषण मिलता रहता। बहुसंख्यक समाज की भाषा होने के बावजूद हिंदी में यह स्थिति नहीं है या है भी तो बहुत कम। लेकिन इस विडंबना का एक आश्वस्तिकर पहलू यह है कि आजीविका के लिए कई तरह के काम करते हुए एक लेखक के अनुभव क्षेत्र में नये विस्तार और आयाम जुड़ते हैं और उनसे उसकी रचना समृद्ध होती है। लिहाज़ा, कवि मंगलेश डबराल की यह किताब लेखक की रोटी ज़्यादातर अनेक ऐसी गद्य रचनाओं का एक चयन है जो पिछले कुछ वर्षों में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में काम करने के दौरान लिखी गयीं। इनमें कुछ साहित्यिक लेख हैं, कवियों-लेखकों की स्मृतियां हैं, समाज संस्कृति और सिनेमा की विभिन्न घटनाओं पर टिप्पणियां हैं जिनके संदर्भ सामयिक होते हुए भी स्थायी महत्व के हैं। इसके अलावा हमारे समय के तीन प्रमुख सांस्कृतिक व्यक्तियों से लंबी बातचीत और समय-समय पर लिखी गयी डायरी के चुनिंदा अंश भी इस चयन में शामिल हैं।

'लेखक की रोटी' के पाठक पायेंगे कि कवि के रूप में अपनी एक जगह बना चुके मंगलेश डबराल का गद्य भी उनकी कविता की ही तरह जीवंत और अर्थभरा है। अच्छे, चिंतनशील और मानवीय गद्य का जो विन्यास हिंदी में इन दिनों प्रायः दूभर हो चला है वह इस संकलन की रचनाओं में पुनर्जीवन पाता दिखाई देगा। शमशेर और रघुवीर सहाय जैसे बड़े कवियों पर लिखे गये लेख हों या ऋत्विक घटक और चार्ली चैप्लिन की कला पर टिप्पणियां या छोटी-छोटी चीज़ों के वर्णन से बनी डायरी के अंश—मंगलेश एक सजग कवि और एक संवेदनशील मनुष्य के रूप में अपने समय के शिल्प को गहराई से जांचते, परखते, सोचते और दर्ज करते चलते हैं। 'संवेदन', 'संरचना', 'संवाद', और 'स्वगत' जैसे चार खंडों में बंटी यह किताब सिर्फ़ 'गद्यं कवीनां निकषं' का ही उदाहरण नहीं है, बल्कि एक कवि के अनिवार्य सरोकारों, सवालों, समाज, संस्कृति और राजनीति को जांचने की उसकी दृष्टि और एक संभव यथार्थ की उसकी कल्पना का भी दस्तावेज़ है। इस चयन की ज़्यादातर रचनाएं हिंदी दैनिक 'जनसत्ता' में और कुछ 'अंतर्दृष्टि', 'इन्द्रप्रस्थ भारती' (डॉ. विजयमोहन सिंह द्वारा संपादित) और 'कथादेश' में प्रकाशित और चर्चित हुई हैं। मंगलेश डबराल की अमेरिका प्रवास की बहुचर्चित डायरी 'एक बार आयोवा' के बाद 'लेखक की रोटी' हिंदी गद्य शिल्प के एक नये आस्वाद की तरह है।

CC-0.Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

G.M. College of Education
Raipur, Bantalab
Jammu
Acc No. 49875
Dated 26.12.2023

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लेखक की रोटी

अग्निशेखर और क्षमा कौल
द्वारा यह
पुस्तक सप्रेम भेंट

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लेखक की रोटी

मंगलेश डबराल

आधार प्रकाशन
पंचकूला (हरियाणा)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ISBN : 81-85469-77-6

मूल्य	:	150 रुपये
सर्वाधिकार	:	मंगलेश डबराल
प्रथम संस्करण	:	1998
प्रकाशक	:	आधार प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड एस.सी.एफ. 267, सेक्टर 16 पंचकूला 134113
आवरण	:	हरचंदन सिंह भट्टी
लेज़र टाइपसेटिंग	:	आधार ग्राफ़िक्स, पंचकूला (हरियाणा)
मुद्रक	:	Saurabh Print-O-Pack, Noida

LEKHAK KI ROTI (collection of creative prose)
By Mangalesh Dabral Price : Rs. 150.00

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अब इस मामूरे में क़हत-ए-ग़म-ए-उल्फ़त है
हमने यह माना कि दिल्ली में रहें, ...

कवि वीरेन डंगवाल के लिए

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

क्रम

संवेदन

शमशेर का मतलब 11
इस दुख को रोज़ समझना पड़ता है 18
अंतर्विरोधों के बीच कवि 24
उन्होंने आधुनिक संवेदना का संभव किया 27
कवि की ज़रूरत किसे है 30
अपनी दुनिया से जाने दुनिया के बच्चे 32
जीवंत कविता का सम्मान 35
सन्नाटे का स्थापत्य 40

संरचना

लेखक की रोटी 45
बाहर की हवाओं से परे एक टोपी 49
नक़्क़ारख़ाना है, पर तूती बोलेगी 53
अपने पैरों पर गिरते समाज की हिंसा 57
कविता का सिनेमा 60
हास्य का दरबार 63
सुनते हुए हम सोचते हैं 67
छोटी चीज़ों का बड़ा जीवन 71
ऋत्विक घटक की दो 'नयी' फ़िल्में 74
हंसते हुए सोचना 78
जैसे कोई फ़िल्म सहसा ख़त्म हो जाये 80

संवाद

हमारे अपने जनपद का कवि 85
स्मृति, विचार, मनुष्य और कविता 93
हर आकार एक जीवन है 101

स्वगत

एक बेतरतीब डायरी 111
एक हाशिया जो मुख्यभूमि है 143

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संवेदन

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

शमशेर का मतलब

'लौट आ ओ फूल की पंखुड़ी/ फिर फूल में लग जा।' शमशेर बहादुर सिंह की कविता 'लौट आ ओ धार' की इन पंक्तियों को एक दिन मेरे कवि-मित्र गिरधर राठी ने सुनाते हुए कहा कि वे शायद कई साल से इन्हें समझने की कोशिश कर रहे थे और आज सुबह सहसा जैसे इनका अर्थ स्पष्ट हुआ। मैंने इतना ही कहा कि हां अद्‌भुत पंक्तियां हैं और यह नहीं पूछा कि इनका क्या अर्थ वे समझे। बाद में मैंने सोचा कि सचमुच इन पंक्तियों का अर्थ क्या है। फूल से अलग हो चुकी एक पंखुड़ी के फिर से फूल से जुड़ने के इस असंभव-से आग्रह या कल्पना में कवि का मंतव्य और वक्तव्य क्या है। क्या यह सिर्फ़ एक भव्य बिंब या एक ऊंचे ख़याल की तरह है, जिसकी रहस्यमयता ही उसका अर्थ होता है या यह उन 'टिपिकल शमशेरियन' अमूर्त्तनों में से है जिनके संकेतों और गूढ़ार्थों को 'डी-कोड' करने के लिए हमारे सुधी समालोचकों ने काफ़ी पसीना बहाया है। ख़ुद शमशेर एक कविता में कह चुके हैं कि इन कविताओं का कोई मतलब नहीं है और ये 'सिर्फ़ लिख-लिख जाती' हैं और इनमें शब्द भी नहीं हैं। क्या ये पंक्तियां भी बस लिख-लिख गयी हैं ?

लेकिन शमशेर ग़फ़लत में डूबे कवि नहीं हैं। वे कभी बिंब के लिए बिंब या कला के लिए कला का इस्तेमाल नहीं करते। मैंने सोचा राठी को इन पंक्तियों में जीवन की पूर्णता का एक अपूर्व आग्रह दिखा होगा। फूल की पंखुड़ी की स्वाभाविक जगह फूल ही है। वही उसकी और फूल की संपूर्णता है। फूल का विन्यास पंखुड़ियों से ही संभव है। चीज़ों को ऐसा ही होना चाहिए। लेकिन फूल और पंखुड़ी किसी चीज़ के प्रतीक नहीं हैं, वे अलग-अलग स्तर पर जीवन और पूरी सृष्टि के रूपक की तरह हो सकते हैं। इस कविता में पंखुड़ी या तो फूल से टूट कर अलग हो चुकी है या हो रही है। शमशेर जैसे इस टूटन, कमी, अपूर्णता और विरूपता को पहचान लेते हैं और पंखुड़ी से लौट आने का आग्रह करते हैं। हम जब-जब अपने जीवन में अधूरेपन की पहचान कर रहे होंगे, यह कविता हमें अनायास याद आयेगी।

संभव है इसके और भी कई अर्थ-स्तर हों और अलग-अलग व्यक्तियों के दिमाग़ में अपनी तरह से खुले हों या शायद कई साल बाद जाकर खुलें। लेकिन यही तो शमशेर की ख़ूबी है कि वे अलग-अलग वक़्तों पर हमारे भीतर कई संबंधों और कई स्मृतियों को जीवित कर देते हैं। हिंदी में शायद निराला के बाद शमशेर की कविता है जो इतनी जटिल कहाये जाने के बावजूद अनेक बार हमारे दैनिक व्यवहार में जुमलों या बिंबों की शक्ल में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उपस्थित हो जाती है। हममें से कइयों ने जब-तब 'शाम का राग अपना है,' 'एक पीली शाम/पतझर का ज़रा अटका हुआ पत्ता', 'राख से लीपा हुआ चौका', 'प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे', 'एक आदमी दो पहाड़ों को कुहनियों से ठेलता', 'बात बोलेगी हम नहीं', 'सत्य का मुख झूठ की आंखें क्या देखें', 'वाम वाम वाम दिशा समय साम्यवादी' जैसी अनेक पंक्तियों को अपने-अपने प्रसंगों में दुहराया होगा। हमारा समाज व्यापक स्तर पर कविता से लगाव रखने वाला समाज होता तो शायद नज़ीर अकबराबादी की शायरी की तरह शमशेर की शायरी भी आम ज़ुबान पर बसी होती। यह देखकर पर कुछ आश्चर्य भी होता है कि प्रकृति और मनुष्य के अनुभवों को शमशेर ने जिस रूप में दिखाया हमें वे उसी रूप में दिखने लगे। हम नहीं जानते कि शमशेर ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'टूटी हुई बिखरी हुई' जिसे कि हिंदी की सर्वश्रेष्ठ प्रेम कविताओं में माना जाता है, किसके लिए लिखी थी: किसी स्त्री के लिए या किसी स्मृति में या वे सिर्फ़ प्रेम के भाव की एक उदात्त रचना करना चाहते थे। पर सच्चाई यह है कि हम उसे जब भी पढ़ते हैं हर बार वह हमें 'बिना रदीफ़ काफ़िये के', 'कबूतरों की एक ग़ज़ल की तरह' एक 'इतने ख़फ़ीफ़, इतने हलके, इतने मीठे दर्द' से भर देती है। यह प्रेम में किसी निराश, शहीद या किसी विजयी व्यक्ति का मीठा दर्द नहीं है, बल्कि उसमें 'प्यास के पहाड़ों पर लेटे एक झरने की सी तड़प' है, 'शाम के पानी में डूबते पहाड़ जैसी ग़मग़ीन मुस्कराहट' है और प्रेम के ही कारण 'इसी शरीर से अमर होने' का गहरा विश्वास है। यानी वह एक संपूर्ण मानवीय अनुभव है और उसमें जो 'समय के बारीक़ तार' हैं उनके लिए एक विलक्षण, अतियथार्थ क़िस्म की तुलना ज़रा शमशेर के ही शब्दों में देखिए :

'मगर उसके बाल मेरी पीठ के नीचे दबे हुए हैं
और मेरी पीठ को समय के बारीक़ तारों की तरह
खुरच रहे हैं'

क्या कोई कविता ऐसी हो सकती है जो हमारे भीतर प्रेम करने जैसा कोई गहरा अनुभव पैदा कर दे या हमें किसी भावनात्मक और वैचारिक नींद से झकझोर दे या कोई नायाब स्वाद हमें दे जाये? क्या उसमें ऐसी क्षमता हो सकती है जैसी शमशेर की ही एक और कविता 'सुबह' में दिखती है जिसमें 'जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था वो पत्थर/सजग-सा होकर पसरने लगा/ आप से आप'? 'टूटी हुई बिखरी हुई' में शायद यह सामर्थ्य है जो उसे अविस्मरणीय कविता बनाती है। इसे हम चाहें तो अमीर ख़ां के गायन या मोत्सार्ट की सिंफ़नी की तरह सुन सकते हैं या कलाकृतियों की एक श्रृंखला की तरह देख सकते हैं। 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में ख़ुद शमशेर ने कहा था कि 'सारी कलाएं एक दूसरे में समोयी हुई हैं, हर कलाकृति दूसरी कलाकृति के अंदर से झांकती है'। सिंफ़नी की ही तरह, हम उसे कहीं बीच से या अंशों में नहीं सुन सकते, क्योंकि वह एक समूचा और अखंडित अनुभव है। रघुवीर सहाय 'टूटी हुई बिखरी हुई' पर लिखी अपनी एक टिप्पणी में भी कहते हैं कि हमें इस कविता की गूंज सुनने के लिए उसे पूरा पढ़ना होगा क्योंकि यह एक भरपूर इंसानी प्रेम है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संपूर्णता शमशेर की कविता का मूल कथ्य है। एक कविता में वे अपनी यह चिंता भी व्यक्त करते हैं कि हमारे समय को एक काश की तरह काट दिया गया है। उनकी कविता में सौंदर्य और प्रेम की सतत खोज इस संपूर्णता की खोज है। हम आधुनिक क़िस्म के कवि लोग जो मनुष्य की कमियों की कविता लिखते हैं, यह देखकर हैरान हो सकते हैं कि शमशेर जो कुछ खंडित और अपूर्ण है उसे अपनी रचना का विषय नहीं बनाते। अज्ञेय के लिए लिखी एक कविता में वे कहते हैं : 'जो कि नहीं है....उसका क्या ग़म।' जो है, शमशेर की कविता उसकी अच्छाइयों की आहटों से भरी हुई है। शमशेर नाम के इंसान के क़रीब रह चुके लोग जानते हैं कि वे ख़ुद भी अपनी कविताओं की तरह थे। कवि और व्यक्ति शमशेर में कोई फांक नहीं थी। यहां भी एक पूर्णता थी। एक ज़िद की तरह उनका विश्वास था कि एक अच्छा इंसान ही अच्छा कवि हो सकता है। हम कुछ दोस्त लोग उनसे बहस करते, कई साहित्यकारों, मसलन फ्रांसीसी कवि रांबो का हवाला देते जो बाद में ग़ुलामों का व्यापार करने वालों के साथ चला गया था। शमशेर कहते कि तब रांबो की कविता भी ख़त्म हो गयी, पर जब तक वह कवि था, सौ फ़ीसद खरा इंसान था। आततायी या नक़ली या बुरे क़िस्म के लोगों ने भी कभी कुछ अच्छा लिखा होता तो शमशेर कहते कि रचना के क्षणों में वे लोग ज़रूर अच्छे रहे होंगे। यानी मिर्ज़ा ग़ालिब का दर्द अगर यह था कि आदमी को इंसान होना मयस्सर नहीं है, तो शमशेर हर आदमी के भीतर एक इंसान को संभव कर लेते थे, उसे सहज रूप में ढूंढ़ निकालते थे। मेरे कई साथी लेखकों की शमशेर से जुड़ी एक स्मृति यह भी है कि उम्र, ज्ञान और अनुभव में अपने से काफ़ी छोटे लोगों को वे सहसा उठाकर इस तरह अपनी बराबरी पर ले आते थे कि हमें इसका पता भी नहीं चल पाता था। ऐसे वक़्त में जब कविगण भी आधे कवि, आधे व्यापारी या आधे नौकर या अफ़सर हो रहे हों, यह बात आश्चर्यजनक लग सकती है कि शमशेर जैसे कवि का जीवन पूरी तरह उनकी कविता की अच्छाई और मनुष्यता से परिचालित होता है।

लेकिन हम शमशेर की कविता की बात करें। तरह-तरह से यह कहा जाता है कि शमशेर प्रेम और सौंदर्यानुभव के, उसके सार-तत्त्व के कवि हैं। वे इन दोनों भावनाओं के अंतर के अंतर्तम तक जाते हैं और प्रकट करने से अधिक छिपाने की भाषाई तरक़ीबों का इस्तेमाल करते हुए इंगितों, मुद्राओं और लगभग कूटभाषा में ही अपनी अभिव्यक्ति करते हैं। शायद इसीलिए अज्ञेय ने उन्हें 'कवियों का कवि' कहा होगा। उन्हें एक ऐसे कीमियागर की छवि दी गयी जिसका उद्देश्य कविता में यह रहा कि वह सोने से कमतर कोई धातु नहीं बनायेगा। इस तरह शमशेर का एक सुदूर और मिथकीय व्यक्तित्व बनाने की कोशिश हुई। शमशेर की कविता की इस सम्मोहक 'माइथोलॉजी' पर काफ़ी कुछ लिखा गया है। उनकी कीमियागरी में किस तरह 'एक नीला दरिया' बरसने लगता है और 'हवाएं बहुत चौड़ी' हो कर गूंजती हैं और कोई चीज़ जो उपस्थित है कैसे फिर से उपस्थित हो जाती है या फिर कुछ नहीं भी अपने आप में एक भारी और अर्थ-भरी चीज़ या उसका मर्म या उसकी पूरी दुनिया बन जाता है :

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

'एक पल के ओट में है कुल जहान
आत्मा है
अखिल की हठ-सी।
चांदनी में घुल गये हैं
बहुत से तारे बहुत कुछ
घुल गया हूं मैं बहुत कुछ अब।

रह गया-सा एक सीधा बिंब
चल रहा है जो
शांत इंगित-सा
न जाने किधर।'

'शांत इंगित की तरह' चलते इस 'बिंब' का एक पक्ष और भी है और शमशेर जैसे अखंडित व्यक्तित्व को ऐसे अप्रासंगिक पक्षों में बांटने की भूल करते हुए भी कहा जा सकता है कि वह सामाजिक-राजनैतिक चेतना का पक्ष है। 'अम्न का राग', 'ये शाम है', 'बात बोलेगी', 'वाम वाम वाम दिशा', 'शाम होने को हुई', 'चीन देश के नाम' और अपने कई कम्युनिस्ट साथियों की याद में, और समाज में चल रहे सांप्रदायीकरण के विरोध में लिखी कई कविताएं शमशेर की उस प्रतिबद्धता को बतलाने के लिए काफ़ी हैं जो उनमें अंत तक रही। उन कविताओं में किसी पार्टी-लाइन की विवशता से उपजा आशावाद या सरलीकरण नहीं है, बल्कि उनमें भी शमशेर की कविता की परिचित शांति, सघनता और संश्लिष्टता ही हम पाते हैं। लेकिन ग़ौर करने की बात है कि इनमें से कई कविताएं सामाजिक संघर्षों के सार्थक नारों और पोस्टरों का भी काम करती रही हैं और आगे भी करेंगी। 'बात बोलेगी हम नहीं/भेद खोलेगी बात ही', 'लेकर सीधा नारा/ कौन पुकारा/ अंतिम आशाओं की संध्याओं से' या 'ग़रीब के हृदय/टंगे हुए/कि रोटियां/लिए हुए निशान/ लाल लाल/जा रहे कि चल रहा/लहू-भरे गवालियार के बज़ार में जुलूस/जल रहा/धुआं धुआं/गवालियार के मजूर का हृदय' जैसी अनेकानेक पंक्तियां वामपंथी सांस्कृतिक आंदोलन के होठों पर बसी रही हैं। 1982 में लिखी एक 'ग़ज़ल' के कई मिसरे भी पोस्टरों में छपकर सांस्कृतिक आंदोलन का हिस्सा बने हैं और यह आश्चर्यजनक लगता है कि शमशेर जैसे 'व्यक्तिवादी और गूढ़' छवि के कवि की पंक्तियां इस तरह सार्वजनिक प्रतिरोध की भाषा बन सकती हैं :

'जितना ही लाउडस्पीकर चीख़ा
उतना ही ईश्वर दूर हुआ
(-अल्ला-ईश्वर दूर हुए!)'
उतने ही दंगे फैले, जितने
'दीन-धरम' फैलाये गये...'

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

क्या शमशेर की सौंदर्यपरक कविताओं और राजनैतिक कविताओं में कोई संबंध है? क्या यह कहना ग़लत होगा कि शमशेर प्रेम की कविता को एक क्रांतिकारी की-सी चेतना और आज़ादी के साथ लिखते हैं और क्रांति की कविता को एक प्रेमी के लगाव और आत्मीयता के साथ? शायद तभी एक संपूर्ण सुंदर मनुष्य की सृष्टि होती है। क्या पाब्लो नेरूदा की तरह शमशेर एक साथ प्रेम और क्रांति के कवि नहीं हैं? ग़ौर करने की बात यह है कि शमशेर की क्रांतिधर्मी कविताओं में नेरूदा की ही तरह किसान-मज़दूर के भीतर की शांति और धैर्य ज़्यादा दिखते हैं। उनके मज़दूरों के दिल बिना किसी आक्रामकता के 'जंगल में लगी आग की तरह' सुलगते हैं और वे जब करवट बदलते हैं तो इंक़लाब आता है। क्रांति में इतनी अधिक शांति और सहजता हिंदी में शमशेर ही भर सकते हैं। इसी तरह ज़रा 'अम्न का राग' को देखें। 'टूटी हुई बिखरी हुई' अगर प्रेम की सबसे अच्छी कविता है तो 'अम्न का राग' को शांति के बारे में लिखा हुआ सबसे सुंदर वक्तव्य कहा जा सकता है। 'रेटॉरिक' नाम का शब्द हिंदी में प्राय: निरर्थ हो चला है पर अपने सकारात्मक आशय में वह अब भी 'अम्न का राग' में गूंजता हुआ मिलता है।

शमशेर शायद ख़ुद भी मानते थे कि उनकी दोनों तरह की कविताओं में कोई दूरी या भेद नहीं है। इस अंतर्संबंध को समझने के लिए हमें प्रेम के शमशेर और क्रांति के शमशेर पर लंबी बातचीत करनी होगी और उससे भी अधिक, दोनों तरह की कविताओं को एक-सी उदारता से पढ़ना होगा, उनसे एक जैसा प्रेम करना होगा।

लेकिन यहां एक दिलचस्प विडंबना से हमारा सामना होता है। वह यह है कि शमशेर जैसे उदार कवि के बारे में ज़्यादातर आलोचक इतने अनुदार तरीक़े से सोचते रहे हैं कि पूरा का पूरा शमशेर किसी को स्वीकार नहीं है। सवाल यह है कि हिंदी आलोचना की ख़ेमेबंदी में आख़िर शमशेर को किस जगह रखा जाये। रूप या कलावादी कहाये जाने वाले लोग उनमें वैष्णव क़िस्म तक का लीलाभाव या 'कवित्व का भी कवित्व' देखने और उनकी क्रांतिधर्मी कविताओं को एक भटकाव मानने की भूल करते रहे हैं, हालांकि इस तथ्य से वे भी परिचित हैं कि कम्युनिस्ट पार्टियों से बाद में एक दूरी बनाने के बावजूद मार्क्सवाद शमशेर के लिए ऑक्सीजन जितना ही ज़रूरी रहा। 23 अक्तूबर 1949 को रघुवीर सहाय को लिखे एक पत्र में वे कहते हैं: 'तीन चीज़ें हमारी ज़िंदगी में बहुत ज़रूरी हैं— बेहद; प्राणवायु, मार्क्सिज़्म और अपनी वह शक्ल जो हम अवाम में देखना चाहते हैं।' दूसरी तरफ़ प्रगतिवादी और जनवादी हैं जिनमें शमशेर की सौंदर्यपरक कविताओं को लेकर एक हिचक या शर्म-सी रही है और वे इसके बरक्स उनकी सामाजिक-राजनैतिक वक्तव्य वाली कविताओं का ख़ास उल्लेख करते हुए गोया यह कहते हैं कि देखिए शमशेर का असल रंग यह है, और यह बड़ी भूल तो दोनों ही करते हैं कि शमशेर जैसे संपूर्ण अखंडित काव्य-व्यक्तित्व को टुकड़ों में बांटकर प्रस्तुत किया चाहते हैं। क्या यह अकारण है कि गंभीर समालोचकीय पड़ताल का विषय बने रहने के बावजूद शमशेर सबसे कम समझे गये कवियों में से हैं?

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

यह विडंबना दिलचस्प इसलिए है कि शमशेर किसी बनी-बनायी विचार सरिणी में अंटते ही नहीं हैं। उन्हीं के शब्द लें तो वे 'प्रायः अपने एक काव्य संसार में ही रमे से' रहते हैं और किन्हीं सांचों में जाकर नहीं बैठ जाते। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि शमशेर को लेकर आधुनिक हिंदी कविता का कोई सांचा पूरा नहीं होता। आलोचकों का एक तबक़ा आधुनिक कविता में मुक्तिबोध-शमशेर-अज्ञेय की त्रयी मानता है, दूसरा मुक्तिबोध-शमशेर-नागार्जुन की, तो तीसरा नागार्जुन-शमशेर-त्रिलोचन को प्रतिनिधि त्रयी बताता है। नागार्जुन-शमशेर-केदारनाथ अग्रवाल की भी एक त्रयी बनायी गयी है। शमशेर हर ऐसी 'त्रयी' में मौजूद दिखते हैं और कलावादी, प्रगतिशील, जनवादी किसी का काम शमशेर के बग़ैर नहीं चलता। जीवन और कविता की ही तरह शमशेर हिंदी कविता के इतिहास को भी पूर्णता देते हुए आते हैं।

शायद शमशेर की जो छवियां बन गयी हैं वे ही उन्हें समझने के रास्ते की मुश्किलें बन जाती हैं। मसलन यह कि वे 'कवियों के कवि' हैं या दुर्बोध-जटिल हैं या बेहद अंतर्मुखी हैं या उनमें कोई वैष्णव लीला भाव है या वे अतियथार्थवादी हैं और पाठकीय धैर्य की परीक्षा लेते हैं। ऐसी मिलती-जुलती धारणाएं मुक्तिबोध के बारे में भी प्रचलित रही हैं। इससे शायद यह हुआ कि हम शमशेर को एक ही तरह का— मसलन फ़क़त प्रेम की विह्वलता का कवि समझते आये और यह देखना भूल गये कि शमशेर के काव्य की विषयवस्तु कितनी व्यापक है— अपने किसी भी समकालीन से ज़्यादा व्यापक और समृद्ध, — या कि शमशेर कितने ही काव्य-रूपों और शिल्पों को अपनाते हैं और कई बार तो सिर्फ़ एक नया शिल्प संभव करने के लिए भी जोखिम उठाते हैं। 'चीन देश का नाम', यूनानी वर्णमाला का कोरस, 'मणिपुरी काव्य-साहित्य' जैसी कविताएं इसके अद्भुत उदाहरण हैं। शमशेर भी यह जानते थे कि उनकी ग़ज़लें अंतर्वस्तु की दृष्टि से और इस विधा की परंपरा में कमज़ोर कही जायेंगी, पर वे उन्हें शायद इसलिए भी लिखते रहे कि हिंदी में ग़ज़ल का शिल्प जीवित रह सके। निराला के बाद शमशेर अकेले कवि हैं जो अनेक बार रूप को ही एक समृद्ध कथ्य की तरह व्यवहार में ले आते हैं। इक़बाल और एज़रा पाउंड जैसे कवियों से वैचारिक असहमति के बावजूद उनकी आसक्ति भी इसी कारण रही होगी, वामपंथी कविता और जनगीतों से उनका गहरा लगाव तो सर्वविदित ही है। लेकिन माध्यम यानी रूप भी शमशेर के लिए एक संपूर्ण वस्तु है, एक पूरी चुनौती है, हालांकि इससे परे भी एक संपूर्णता है जिसे प्राप्त करने के लिए जब वे एक उपलब्ध संपूर्णता से आगे जाते हैं तो उससे क्षमा याचना करना नहीं भूलते :

'ओ स्पर्श!
मुझे क्षमा करना
कि तुम मुझी में होकर मुझसे परे हो
ओ माध्यम!
क्षमा करना कि मैं तुम्हारे पार जाना चाहता रहा हूं।'

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

'सौंदर्य' नाम की यह बेजोड़ कविता सौंदर्य के अनुभव के विषय-पाठ की तरह है। वह हमें सुंदरता के भौतिक और ऐंद्रिक प्रतिमानों के माध्यम से सौंदर्य के 'अपरिचित अमूर्त्तन' की ओर ले जाती है। वह त्वचा के नीचे थिरकते रक्त और मस्तिष्क या दृष्टि और स्पर्श में ही सुंदरता की खोज नहीं करती है क्योंकि उनमें तो वह प्रत्यक्ष रूप में है ही, पर वह इन पार्थिव रूपों को अस्वीकार भी नहीं करती, बल्कि उनमें से होते हुए उनके पार जाना चाहती है। इस खोज में वह अपने भी पार जाने, अपने को भी लांघने और अपने न होने की भी आकांक्षा करती है ताकि 'पाठन विशेप सौन्दर्य' का कितना अधिक विस्तार' हो सके। शमशेर अगर सुंदरता के लौकिक और ऐंद्रिक आकारों को अनदेखा करके, उन्हें उपेक्षणीय मानकर पार जाना चाहते तो वे एक नवछायावादी-रहस्यवादी या हद से हद एक आध्यात्मिक कवि होते। ख़ास बात यह है कि वे 'स्पर्श' और 'माध्यम' को लांघने की इच्छा रखते हुए भी 'स्पर्श' और 'माध्यम' की गरिमा को नहीं भूलते। यहां सौंदर्य के मूर्त्तन और अमूर्तन की यह द्वंद्वात्मकता अपना लगभग शुद्धतम रूप से हासिल करती है। शमशेर के यहां ऐसी कविताएं बहुत हैं और शायद मुक्तिबोध ने इसी आधार पर यह कहा होगा कि शमशेर अपने शब्दों से 'एक ऐसी पवित्र जगह' की रचना करते हैं जहां प्रवेश करते हुए कुछ डर-सा लगता है।

शमशेर हमें उस मानवीय संपूर्णता के प्रति सम्मान सिखाते हैं, जो उपलब्ध चाहे न हो, संभव ज़रूर है। इसलिए उनका कवि 'घंघोल देता है/ व्यक्तियों के जल/ हिला-मिला देता/ कई दर्पनों के जल।' शमशेर को हम टूटे हुए आईनों में देखने की बजाय उस साबुत आईने में ही ठीक-ठीक देख सकते हैं जो उनकी कविताओं में ही जगह-जगह चमकता हुआ दिखता है। इसके लिए पूर्वनिर्मित छवियों से उन्हें मुक्त करना ज़रूरी है। जर्मन विचारक वाल्टर बेंजामिन ने बेर्टोल्ट ब्रेष्ट के बारे में कहा था कि ब्रेष्ट का महत्त्व मार्क्सवादी होने में नहीं है बल्कि इसमें है कि वे अपनी रचनाओं में हर बार मार्क्सवाद का नये ढंग से आविष्कार करते चलते हैं। एक दूसरे स्तर पर शमशेर के यहां भी हम मार्क्सवाद और सौंदर्यबोध, दोनों की परिचित शक्लों से अलग होने की विशिष्टता देख सकते हैं। इसीलिए उनका मार्क्सवाद तैयारशुदा क़िस्म का नहीं है और न सौंदर्यबोध उस तरह पिलपिला है जैसा कि हिंदी कविता में ख़ूब दिखता है। उनके मार्क्सवाद और उनके सौंदर्यवाद को एक मानकर पढ़ना शायद उन्हें समझने का पहला क़दम हो सकता है क्योंकि शमशेर दरअसल आज़ादी के कवि हैं। अपने जीवनकाल में प्रकाशित अंतिम कविता संग्रह 'काल तुझसे होड़ है मेरी' की भूमिका में वे ग़ालिब के एक शेर 'फ़रियाद की कोई लै नहीं है/ नाला पाबंदे – नै नहीं है' के हवाले से कहते हैं कि 'नाला (यानी आह) बांसुरी बजाने की कला के अधीन नहीं है, इससे आज़ाद है। इसी आज़ादी की खोज मेरी कविता है।'

शमशेर की कविता का मतलब अगर हम इस आज़ादी में खोज सकें तो शायद उसके कई अनजाने अर्थ कभी किसी क्षण अचानक हमारे लिए कौंध उठेंगे।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इस दुख को रोज़ समझना पड़ता है

'कवि एक ही भाषा में/ बात करता है/ बच्चे से/ घुसपैठिये से/ धर्मगुरु से/ राजनीतिक से/ पुलिस वाले से/ बच्चा मुस्कराता है/ घुसपैठिये को लगता है/ उसका मख़ौल बन रहा है/ राजनीतिक अपमानित अनुभव करता है/ धर्मगुरु को ख़तरा महसूस होता है/ पुलिस वाला/ कमर कसने लगता है/ शर्मिंदा कवि/ क्षमा मांगता है/ और अपनी ग़लती/ दुहराता है।'

— तदेऊष रूज़ेविच : 'पुनर्शिक्षा'

पोलैंड के कवि तदेऊष रूज़ेविच की यह कविता रघुवीर सहाय की कविता और काफ़ी हद तक उनके जीवन पर भी लागू होती है। अपनी सृजनात्मकता के क़रीब चालीस वर्षों में लिखी गयी उनकी कविताएं घुसपैठियों, पुजारियों, राजनीतिकों और पुलिस को यानी ताक़त के किसी भी प्रतिष्ठान को पसंद नहीं आ सकती थीं। कविता ही नहीं, रघुवीर सहाय का सारा लेखन सत्ता और शक्ति के विरोध का लेखन है, लेकिन वह इस विरोध में किसी शौर्य का प्रदर्शन नहीं करता, ताक़त का सामना करने के लिए उतनी ही बड़ी ताक़त की ज़रूरत या उसकी आकांक्षा नहीं दिखाता। इसके उलट, उसमें एक लाचारगी का एहसास है, अनेक बार क्षमा मांगती हुई-सी भंगिमा है जैसी कि सत्ता-तंत्र द्वारा शिकार किये गये किसी व्यक्ति में और इस तरह तमाम साधारण जनों में पायी जाती है, लेकिन इसी के साथ अपनी उस 'ग़लती' को दुहराते रहने की गहरी प्रतिबद्धता है जैसी कि रूज़ेविच की कविता के कवि में मिलती है।

वह संगठित के बरक्स असंगठित, समर्थ और सफल के विरुद्ध असमर्थ और असफल, और पुरुषों के सामने औरतों-बच्चों की दुनिया को उभारती है। हम उनका दूसरा कविता-संग्रह 'आत्महत्या के विरुद्ध' देखें जो 1967 में छपा था और जिसे केंद्रीय संग्रह मानकर डॉ. नामवर सिंह को कविता के 'नये प्रतिमानों' की बात करनी पड़ी थी, या उसके बाद 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' (1975), 'लोग भूल गये हैं' (1982) या आख़िरी संग्रह 'कुछ पते कुछ चिट्ठियां' (1989) पढ़ें, रघुवीर सहाय की कविताओं में रामलाल, कमला, मुसद्दी, रमेश, मैकू, रामू, रामदास, चंद्रकांत, दयाशंकर, दयावती जैसे अनेक नाम मिलेंगे जो साधारण जीवन के पात्र बनकर आते हैं और अपना कोई साधारण दर्द या इच्छा दिखाकर हमें विचलित कर देते हैं। हिंदी की बहुत-सी प्रगतिशील और क्रांतिकारी कही जाने वाली कविताएं ग़रीबों के क्रंदन या फिर क्रोध या उनकी क्रांति की कामना से भरी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पड़ी हैं, पर रघुवीर सहाय की कविता समाज में दबे-कुचले लोगों को उदात्त रूप में चित्रित नहीं करती, बल्कि उनकी स्थिति की मार्फ़त समाज-व्यवस्था से मुठभेड़ और जिरह करती है। जहां यह जिरह नहीं है, वहां हमें साधारण लोगों के ऐसे प्रयासों के दर्शन होते हैं जो वे अपने छोटे-से दायरे में सत्ता-तंत्र की अमानवीयता से जूझने के लिए करते रहते हैं। उनकी एक कविता में एक महामंत्री दिन भर देश में जो कुछ तोड़ता है, उसे दिन भर में एक स्त्री जोड़कर रखती है। इस तरह की बीसियों कविताएं हैं जिनमें सत्ता और राजनीति की बर्बरता के सामने मामूली लोगों के काम उभारकर रखे गये हैं। रघुवीर सहाय जैसे किसी तोप के आगे एक छोटी-सी घिसी हुई पेंसिल रख देते हैं और इस तरह कि हमें तोप एक अमानवीय और हास्यास्पद चीज़ नजर आने लगती है। एक बड़ा कवि यही काम कर सकता है जो रघुवीर सहाय इकसठ साल के जीवन में अपनी असमय मृत्यु से कुछ ही पहले तक निरंतर करते रहे।

'हंसो हंसो जल्दी हंसो', जो शायद रघुवीर सहाय का इस मानी में सबसे अच्छा संग्रह है कि उसमें उनके सभी सामाजिक और नैतिक सरोकार पूरी सघनता में दिखते हैं और जिस पर दुर्भाग्य से हिंदी में बहुत कम बात हुई, आपातकाल से पहले की कविताओं का संकलन है। उसकी एक कविता 'आने वाला ख़तरा' में एक ऐसे आगामी समय का वर्णन है जब चारों ओर औरतों-मर्दों के खाने-पीने के फूहड़ आयोजन होंगे, किसी के पास कोई विचार नहीं होगा, क्रोध होगा लेकिन विरोध कहीं नहीं होगा, सिर्फ़ अर्ज़ियां लिखी जायेंगी और तब एक ख़तरा होगा और उस ख़तरे की घंटी को और कोई नहीं, बादशाह ही बजायेगा। यह कविता 1974 में लिखी गयी थी जब बिहार और क़रीब-क़रीब पूरे समाज में ज़बर्दस्त संघर्ष चल रहा था और शासक समुदाय पैसे, आतंक और सेंसरशिप के नये तरीक़े ढूंढ़ने में लगा था। इसके बाद सभी जानते हैं कि इंदिरा गांधी के हाथों ख़तरे की घंटी बजाकर देश में इमरजेंसी आयी और उसकी साफ़ आहट रघुवीर सहाय की यह कविता साल-भर पहले ही दे चुकी थी। लेकिन यह पूर्वाभास अंतश्चेतना के आधार पर की गयी भविष्यवाणी नहीं थी, बल्कि समाज, मनुष्य और यथार्थ को समझने की उनकी वैज्ञानिक संवेदना के कारण संभव हुई थी। इसी कविता के शुरू में एक ऐसे दिमाग़ की ज़रूरत बतायी गयी है जो ख़ुशामद करने का आदी न हो और एक ऐसी ग़रीबी की मांग की गयी है जो अपने स्वाभिमान में किसी से कुछ नहीं चाहती और आंख से आंख मिलाने का साहस रखती है।

शायद इसलिए कि रघुवीर सहाय मानते थे कि आने वाले ख़तरे के सामने यही दो चीज़ें टिकी रहेंगी और उससे जूझेंगी। लेकिन यह भी सच है कि सिर्फ़ आपातकाल इस कविता का विषय नहीं है। यह कविता उस प्रक्रिया के बारे में है जो आपातकाल जैसे मानव-विरोधी नतीजों तक जाती है। रघुवीर सहाय की कम से कम बीस कविताएं ऐसी हैं जिनमें मनुष्य पर आने वाले संकटों के बारे मे एक 'प्रोफ़ेटिक विज़न' मिलता है, ऐसी चेतावनियां नजर आती हैं जैसी उनके पूर्ववर्ती कवि मुक्तिबोध की कविताओं में भी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जगह-जगह मिलती हैं। 'कुछ पते कुछ चिट्ठियां' में 'बूढ़े' शीर्षक एक कविता है : 'लोकतंत्र का मज़ाक़ बनते/ देख रहे हैं बेहद बूढ़े/ कुछ कम बूढ़े कहें कि क्या यह लोकतंत्र है ?/ इनसे भी कम बूढ़े कहते हैं कि मार दो/ बेहद कम बूढ़ों को नफ़रत लोकतंत्र से/ बाक़ी सबको एक-दूसरे से नफ़रत है।'

देश में लोकतांत्रिक व्यवस्था और मूल्यों के नष्ट होने की कहानी इन पंक्तियों में पढ़ी जा सकती है। लोकतंत्र का मख़ौल बनते देखते बूढ़ों से लेकर लोकतंत्र से घृणा और फिर आपस में ही घृणा करते लोगों तक छह पंक्तियों में यह कविता आज़ादी से लेकर हमारे वर्तमान हालात को समेटती हुई जैसे एक गंभीर चेतावनी दे जाती है। इसी तरह, 'हैं' शीर्षक एक कविता में समाज जितना मरता जाता है, राजा उतना ही जीता और सुरक्षित होता जाता है। उस राजा के असल शत्रु वे लोग हैं जो लगातार कम होते जा रहे हैं। कोई बीस साल पहले की इस कविता में हम आज के उस विद्रूप को पहचान सकते हैं जो हमारी भाषा और समाज से संवेदना, विवेक और तर्क को खारिज किये दे रहा है।

रघुवीर सहाय ने प्रकृति, धूप, पेड़, फूल, ख़ुशबू, पानी के कई संस्मरणों और प्रेम पर भी कविताएं लिखी हैं और उनका पहला संग्रह 'सीढ़ियों पर धूप में' की कई ऐसी कविताओं को कई वर्ष बाद भी पढ़ना उतना ही सुखद है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' में 'देखो वृक्ष कुछ रच रहा है/ किताबी होगा वह कवि जो कहेगा/ हाय पत्ता झर रहा है' जैसी अमर पंक्तियां पेड़ के बारे में हैं। लेकिन रघुवीर सहाय प्रचलित अर्थों में प्रकृति, प्रेम और सौंदर्य की सरल रेखाओं के कवि नहीं हैं। ये चीज़ें भी उनकी कविता में संश्लिष्ट मानवीय अनुभव बने बग़ैर नहीं आतीं। वे बुनियादी तौर पर समाज के, उसकी बुरी ख़बरों और तनावों के कवि हैं। बहुत कुछ बर्टोल्ट ब्रेष्ट की तरह, जिन्होंने अपनी एक कविता में कहा है कि 'वह जो सामने हंस रहा है तो सिर्फ़ इसलिए कि अभी उस तक बुरी ख़बर नहीं पहुंची।' यह अकारण नहीं है कि ब्रेष्ट की ही तरह रघुवीर सहाय अपनी रचना निरी भावना के तानेबाने से नहीं बुनते थे। अक्सर वे 'वृथा भावुकता' जैसे शब्दों की खिल्ली-सी उड़ाते थे। कुछ युवा लेखकों से बातचीत में उन्होंने कहा था कि : 'मैं बहुत भावुक मनुष्य हूं, पर भावुकता की दुनिया मुझे एक घुटन और लाचारी के एहसास से भर देती है, इसलिए मुझे वह एक अधूरा अनुभव लगता है। भावुकता और भावनाओं को भी एक सामाजिक विचार बनकर आना चाहिए।'

अपनी गहरी से गहरी भावना को सामाजिक विचार बनाने का यह आग्रह रघुवीर सहाय की कविताओं में बहुत पहले से रहा है। वे पीड़ा को व्यक्त करने से पहले उसे समझने की कोशिश करते हैं। 'सीढ़ियों पर धूप में' की एक कविता की शुरुआती पंक्तियां हैं : 'यह क्या है जो इस जूते में गड़ता है/ यह कील कहां से रोज़ निकल आती है/ इस दुख को रोज़ समझना क्यों पड़ता है।' दुख को समझने की यह अनिवार्यता और उसकी समझ के बग़ैर अभिव्यक्त न करने की नैतिकता अंत तक रघुवीर सहाय की रचना-यात्रा में मौजूद रही। उनके मित्र और परिचित जानते थे कि उन्होंने कष्ट झेले, निजी और सामाजिक-

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

राजनैतिक दोनों तरह के विकट दबावों को सहन करते रहे, पर किसी निजी दुख की कोई कविता उन्होंने नहीं लिखी। हां, तब लिखी जब उस पीड़ा के रूप उन्होंने समाज में साधारण जनों के बीच अनुभव किये। व्यवस्था और सत्ता के विरोध की उनकी कविताओं में भी हम यही प्रक्रिया देखते हैं। शायद इसी कारण यह संभव हुआ कि करुणा उनकी रचनाओं में एक विचार की शक्ल में आयी जिसमें वह किसी विपन्न पर की गयी दया नहीं है और न निजी विपत्ति की आत्मदया है। दया और आत्मदया, दोनों रघुवीर सहाय की निगाह में इंसान को एक दर्जा नीचे गिराकर उसे एक इस्तेमाल-योग्य वस्तु में बदल देने और उससे उसके विरोध की क्षमता छीन लेने वाली चीज़ें थीं। हिंदी में ऐसी कविताओं की कमी नहीं है जिनमें निजी तौर से और आम आदमी की ओर से भी करुणा का भारी क्रंदन सुनाई देता है। रघुवीर सहाय ऐसी करुणा को संशय से देखते थे और कभी-कभी कहते थे कि हिंदी में सहानुभूति, दुख, करुणा और मृत्यु का व्यापार भी चल रहा है और कई लोगों ने जीते-जी मृत्यु की दूकानें खोल ली हैं जो उन्हें व्यावसायिक तौर पर सफल बनाती हैं।

करुणा को विचार में बदलकर ही रघुवीर सहाय उस भाषा को नये सिरे से निर्मित कर पाये जो रूपकों, प्रतीकों और दुख के व्यापार के चलते काफ़ी खोखली कर दी गयी थी। समाज, और एक बराबरी के समाज के बाद उनकी दूसरी मुख्य चिंता भाषा ही थी। उनसे बड़ा हिंदी-समर्थक मिलना मुश्किल है, लेकिन वे हिंदी के पुजारी बनने के विरोधी थे। वे हिंदी के रचनात्मक इस्तेमाल के, उसकी संभावनाओं को लगातार खोजने के आग्रही थे और उसे पूजनीय वस्तु बनाने वालों पर उन्होंने 'दिनमान' में कई बार व्यंग्य किया। भाषा को वे सामाजिक संबंधों का ही दूसरा नाम मानते थे। दूसरी भारतीय भाषाओं से उनका गहरा प्रेम भी इसी हिंदी-प्रेम का एक आयाम था। 'दिनमान' के पन्नों में उन्होंने कवि शमशेर बहादुर सिंह से 'उर्दू शिक्षा' के कई पाठ लिखवाये थे जिनसे हज़ारों लोगों ने उर्दू सीखी। कुछ और भाषाओं के सबक़ भी 'दिनमान' में छपे। भाषा को अर्थहीन या विकृत करने की शासक वर्ग की कोशिशों के प्रति वे हमेशा सजग रहे। उनकी एक कविता 'दो अर्थ का भय' इन्हीं कोशिशों का विरोध करने वाली कविता है जिसमें उन्होंने कहा है: 'मुझे मालूम था मगर इस तरह नहीं कि जो/ ख़तरे मैंने देखे थे वे जब सच होंगे/ तो किस तरह उनकी चेतावनी देने की भाषा बेकार हो चुकी होगी / एक नयी भाषा दरकार होगी।' भाषा और मनुष्य के रिश्ते को वे किस तरह अविभाज्य मानते थे, इसका एक उदाहरण 'फूलमाला हाथों में' में मिलता है जिसकी प्रारंभिक पंक्तियां हैं : 'हत्यारे जब सारे शब्दों को/ तोड़ लेंगे/ तब वे अपने-अपने मित्रों को मार देंगे।'

दुख की समझ और दो अर्थों के भय से मुक्त भाषा शायद वे प्रमुख गुण थे, जिनसे आकर्षित नयी पीढ़ी रघुवीर सहाय नाम के इंसान और उनके भीतर सक्रिय अद्वितीय मस्तिष्क के क़रीब आयी। दिल्ली के निगम बोध घाट पर जहां उनका अंतिम संस्कार हुआ, इतने ज़्यादा शोकाकुल लोग थे और उनमें जितने युवा लेखक थे उतने शायद किसी और साहित्यकार की अंतिम यात्रा में नहीं रहे होंगे। जैसे रघुवीर सहाय के रूप में उन्हीं के भीतर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
का एक हिस्सा चला गया हो। रघुवीर सहाय कोई गर्मजोशी से मिलने वाले, उत्साही व्यक्ति नहीं थे और न ही साहित्य में नेता या मठाधीश बनना उन्हें गवारा था। बल्कि उनका आजीवन संघर्ष साहित्यिक-सांस्कृतिक मठों के ख़िलाफ़ रहा और अगर उन्हें महान या अग्रणी बनाने की कोशिश की भी गयी तो वे हमेशा अपने को किसी साधारण आदमी की तरह प्रस्तुत करके अपने बारे में बन रहे मिथक को तोड़ देते थे। दरअसल उन्हें समानता और समता के अलावा कोई संबंध समाज में स्वीकार ही नहीं था। उनसे इंटरव्यू करने वाले अक्सर उनसे पूछते थे कि आपकी कविता ने हिंदी कविता को बदला है तो उनका जवाब कमोबेश यही होता था कि अगर ऐसा हुआ भी है तो वह अकेले मैंने नहीं किया, हम सबने मिलकर किया है और हमारे प्रयत्न भी एक उस बड़े काम का एक हिस्सा हैं जो तमाम लोगों की रचनात्मकता से हो रहा है।

लोग जानते हैं कि 'दिनमान' के ज़रिये रघुवीर सहाय ने जैसी पत्रकारिता की, वह अब शायद कभी नहीं हो सकेगी। 'दिनमान' ने हज़ारों साधारण लोगों को अभिव्यक्ति के अवसर दिये और उन्हें एहसास दिया कि लेखक होने के लिए और कुछ नहीं, संवेदना और सच्चाई चाहिए। लेकिन कविता की नयी पीढ़ी तब रघुवीर सहाय के अधिक स्नेह का पात्र बनी जब वे 'दिनमान' की संपादकी से निवृत्त होकर उस स्वतंत्र लेखन में लगे जो हिंदी में स्वतंत्र कम और संघर्षमय अधिक होता है। इस दौर में वह समाजपरक और 'विज़नरी' पत्रकारिता, जो रघुवीर सहाय ने की थी, आख़िरी सांस ले रही थी और सत्तापरक पत्रकारिता का प्रवेश हो रहा था। लेकिन रघुवीर सहाय ने पत्रकारिता की नयी शर्तों पर काम नहीं किया। नयी पत्रकारिता कमोबेश साहित्य और पत्रकारिता को बहुत अलग-अलग मानती थी जबकि रघुवीर सहाय दोनों को परस्पर पूरक और नये मानव संबंधों की खोज करने वाला मानते थे। 'दिनमान' में भी इसी तरह की पत्रकारिता हुई थी और उसकी परंपरा महावीर प्रसाद द्विवेदी तक जुड़ती थी। उनकी यह प्रतिबद्धता 'जनसत्ता' के 'अर्थात' कॉलम में भी दिखती थी जिसे वे पत्र की शुरुआत से ही लिखते आ रहे थे और उनकी अंतिम टिप्पणी भी 30 दिसंबर 1990 को उनके निधन के दिन छपी थी। भाषा में अर्थ बचाने और मानवीय स्थिति के सरलीकरणों का विरोध करने का काम उन्होंने इस कॉलम में भी किया।

साहित्य के नये लोगों ने रघुवीर सहाय के रूप में एक मस्तिष्क देखा जो हर चीज़ को एक नये तरीक़े से देखता था। वे यथार्थ को नये ढंग से खोजना और जांचना सिखाते थे। उनका दिमाग़ इतना संगठित था, उसमें इतना आंतरिक अनुशासन था, तब भी वह इतना आकारहीन था कि किसी नये भाव या विचार को कुछ आश्चर्य और कुछ सहजता से तुरंत अपनाता था और उसे अपने चिंतन से मिलाकर उसका एक और आयाम खोज लेता था। संगठित दिमाग़ आम तौर पर कुछ विचित्र सांचों और खानों से भर जाते हैं, पर रघुवीर सहाय बनी-बनायी अवधारणाओं और सिद्धांतों से मुक्त मस्तिष्क थे। उनसे बातचीत करके हमेशा लगता था कि हमें कुछ नये विचार मिले हैं, यथार्थ और मनुष्य को समझने की नयी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

खिड़कियां दिखी हैं और चीज़ों को जितना समझा गया है, उन्हें उससे भी ज्यादा और नये ढंग से समझने की ज़रूरत है।

शायद यह बात रघुवीर सहाय की कविता पर भी लागू होती है जिस पर हिंदी में अब तक बहुत कुछ लिखा गया है लेकिन उसे निरंतर समझने, अपनाने और उस पर लिखने की ज़रूरत हमेशा बनी रहेगी और कविता की दुनिया में आने वाले लोग बार-बार उनकी कविता की ओर लौटते रहेंगे।

दिसंबर 1990

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अंतर्विरोधों के बीच कवि

अब जबकि श्रीकांत वर्मा हमारे बीच नहीं हैं, यह कहने का ज़्यादा अर्थ नहीं कि वे अगर कैंसर के आपरेशन के लिए अमेरिका न जाते तो शायद कई साल जीवित रहते और हिंदी कविता और गद्य में कुछ ऐसा नया करते जिसे करने के लिए वे अंतिम दिनों में विकल थे। कांग्रेस महासचिव न रहने के बाद नये सिरे से लिखने में जुटना ही उनकी मूल चिंता थी और यह बात वे कभी-कभार उनसे मिलने वाले लेखकों से कहते भी थे। 'जलसाघर' के बारह साल बाद उनका नया कविता संग्रह 'मगध' छपा था जिससे उन्हें पहला संतोष तो यह था कि राजनीतिक स्तर पर तमाम विवादों का निशाना बनने के बावजूद उनकी कविता ही अंततः वह चीज़ है जो उन्हें प्रासंगिक बनाये रखेगी।

शायद कविता के लिए जीने की ख़ातिर ही उन्होंने दिल की बाई-पास सर्जरी के कुछ ही महीने बाद दूसरा आपरेशन कराने तुरंत अमेरिका जाने का निर्णय किया। रघुवीर सहाय का एक वक्तव्य दुहरायें तो उन्हें मालूम था कि मुझे अपने ही मोर्चे पर मरना चाहिए। भाषा के मोर्चे पर। दुर्भाग्य से अमेरिका का यह रुआब हम सब पर है कि पैसा हो तो आरोग्य अमेरिका में ही मिलता है, जबकि सच यह है कि वहां मानव शरीर की व्याधियां या तो शोध का मामला हैं या पैसे का।

श्रीकांत वर्मा के राजनीतिक कार्यकलाप विवादास्पद रहे, पर उनकी कविता को लेकर कोई विवाद नहीं है और अंततः वे एक कवि के रूप में ही याद किये जाते रहेंगे, जिसने अपने समकालीन दूसरे महत्त्वपूर्ण कवियों की तरह परंपरा का या उसके परिष्कार, परिवर्तन और कायाकल्प का रास्ता अपनाने की बजाय उससे सीधे विद्रोह का जोखिम लिया। श्रीकांत हिंदी के उन चंद कवियों में रहे हैं जिन्हें किसी साहित्यिक आंदोलन में शामिल न होने के बावजूद जल्दी ही एक प्रमुख कवि स्वीकार कर लिया गया। अपनी कविता के सहारे ही खड़े होने की यह चेतना शायद उन्हें मुक्तिबोध और हरिशंकर परसाई जैसे व्यक्तित्वों के लंबे संपर्क से मिली थी। यह भी अकारण नहीं है कि वे अपने से पिछली पीढ़ी के लोगों से बहुत संवाद नहीं बना पाते थे और यह प्रवृत्ति उनमें अंत तक रही।

नये रचनाकार उनसे तब कटने शुरू हुए जब वे सत्ता-राजनीति के क़रीब गये। इमरजेंसी के दिनों में वे इंदिरा गांधी के साथ थे और उनके 'बुद्धिजीवी सेल' के इंचार्ज रहे। उनके चुनाव अभियानों का संचालन करते हुए उन्होंने पूरी कल्पनाशक्ति जैसे कांग्रेस

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

चुनाव अभियान में लगा दी और ऐसे नारे ईजाद किये कि कुछ लोगों का यहां तक मानना है कि इंदिरा गांधी उन्हीं नारों से चुनाव जीतीं। रचनात्मक रूप से ये उनके लिए लगभग बंजर वर्ष रहे। इंदिरा गांधी की हत्या होने पर उन्होंने यह अनर्थकारी बयान भी दिया कि हत्यारे की गोली से पहले इस देश के बुद्धिजीवी उन्हें निंदा और घृणा की गोलियों से मार चुके थे। इस तरह के कई बयानों के चलते नयी पीढ़ी और पुराने दोस्त, दोनों श्रीकांत वर्मा से दूर होते गये। कहीं किसी सभा में किसी युवा लेखक से मिलने पर वे अकसर कहते: आप मिलते नहीं हैं। मेरी राजनीति से आपका विरोध है, पर मुझसे और मेरी कविता से तो नहीं है।

जानी-पहचानी बात है कि सत्ता का तिलिस्म बड़े-बड़ों के दिमाग़ फेर देता है। यह भी सच है कि एक बार उसका स्वाद लगने पर आदमी उसे छोड़ नहीं पाता। पर व्यक्ति के रूप में यह श्रीकांत वर्मा का गुण था कि ताक़त पाकर वे अपने अतीत और दोस्तों की दुनिया को एकदम भूल नहीं गये। उनकी मानवीयता, शुरुआती संघर्षों से सीखी हुई मददगारी थोड़ा क्षय भले ही हुई हो, नष्ट नहीं हुई। तनाव, संशय, भय और असुरक्षा की भावना उनके जीवन और कविता में काफ़ी रही और ऐसा व्यक्ति सुरक्षित होने पर संवेदनाहीन हो जा सकता है। पर श्रीकांत वर्मा एक कवि के रूप में अपने काम और अपनी नियति दोनों में परिचित थे और उन्हीं के साथ जीना चाहते थे। अंतिम संग्रह 'मगध' की कविता में उनकी पिछली कविताओं जैसा आक्रोश, तनाव और मानवीय नियति के सवालों का सामना करने की कोशिश बेशक नहीं है, पर वे इतिहास की घटनाओं के मार्फ़त आत्म-साक्षात्कार करने, ख़ुद को समझने की ओर बढ़ती हैं। उनमें कहीं आत्मग्लानि भी दिखती है और कहीं उसका महिमा-मंडन भी। पर यह सब समय, इतिहास और व्यक्तिगत जीवन के उन अनुभवों का नतीजा था जिनसे श्रीकांत वर्मा का जटिल व्यक्तित्व हमेशा आक्रांत रहा।

'मगध' की कविताएं पढ़ते हुए यह मोटा-सा ख़याल आता है कि जैसे वे दस-बारह साल सत्ता का साथ देने का पश्चाताप इन कविताओं में कर रहे हों। 'जलसाघर' की अंतिम कविताओं में भी यह भाव है। एक कविता सबकी तरह अपने भी जय-जयकार करने और फिर 'अज़ीज़' के मारे जाने पर हैरत में 'यह कैसे हुआ' पूछने के बारे में है। यह 'अज़ीज़' शायद उसी चेतना के एक हिस्से का नाम है, जो श्रीकांत वर्मा के कवि की बुनियाद थी— सवाल उठाती हुई और उनके जवाब मिलने से पहले और सवाल करती हुई।

एक समय तक श्रीकांत वर्मा सत्ता और साहित्य के सवालों पर विचार करते रहे। पर जब सत्ता में आये तो शायद इन सवालों को उन्होंने अनदेखा कर दिया। लेकिन सवाल थे और अंत में जब उनसे साक्षात्कार हुआ तो उन्होंने छीजने, क्षय होने की प्रक्रिया को इतिहास से जोड़ा।

श्रीकांत वर्मा की सामर्थ्य यह थी कि उन्होंने सत्ता और साहित्य दोनों को दो अलग

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दुनियाएं मान कर जीने की जी तोड़ कोशिश की। उनकी त्रासदी यह है कि ऐसा मुमकिन नहीं हुआ। कांग्रेस प्रवक्ता के रूप में उनकी ज़बान जो बोलती थी, दिमाग़ उसे नामंज़ूर करता था और दिमाग़ जो करता था वह कहीं कांग्रेस से मेल नहीं खाता था। राजनीतिक सत्ता ने उन्हें भौतिक सवालों के आसान समाधान दिये थे, पर उनकी कविता के सवालों के जवाब वहां नहीं थे। रूसी कवि वोज़्नेसेंस्की को वे अपना सबसे प्रिय कवि इसीलिए मनाते थे कि उनकी कविता सवाल करती है :

'नियति और आंसू को
समेटा नहीं जा सकता सपाट उत्तरों में
प्रश्न ही सत्य है
कवि एक प्रश्न है'

श्रीकांत वर्मा की त्रासदी और विडंबना के बावजूद कविता के प्रश्न जारी रहेंगे। यह कवि श्रीकांत वर्मा की महत्त्वपूर्ण देन है।

जून 1986

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उन्होंने आधुनिक संवेदना को संभव किया

वात्स्यायन जी ने अपने बग़ीचे में नीम के पेड़ पर एक घर बनवाया था। गांवों या जंगलों में पेड़ों पर बने मचानों की बात छोड़ दें तो शहर में किसी कवि द्वारा बनवाया गया यह शायद अपनी तरह का पहला घर था। लकड़ी की यह कुटीर डेढ़ महीने में बनकर तैयार हुई और इसका पूरा ख़ाका वात्स्यायन जी ने ख़ुद बनाया था। शाम चार बजे वात्स्यायन वनस्पतियों और हवा के बीच टिके, कोई बीस फ़ुट ऊंचे इस घर में मित्रों के बीच अपनी नयी कविताएं पढ़ने वाले थे।

ये कविताएं मरुस्थल के बारे में थीं। पिछले दिनों से वे रेगिस्तान के अनुभव पर लिखी कविताओं की एक शृंखला पर काम कर रहे थे। 'मरुथल' शीर्षक इस कविता-क्रम में रेगिस्तान के समय, उनकी ऋतुओं और मुद्राओं और उसकी अस्मिता पर केंद्रित सघन आत्मिक अभिव्यक्तियां थीं। समुद्र को केंद्र बनाकर लिखी गयी उनकी कविता शृंखला की काफ़ी चर्चा हुई है। 'मरुथल' की कविताएं अपनी सघनता और रहस्यात्मकता के कारण उनसे आगे का प्रयोग मानी जा सकती हैं।

लेकिन पेड़ पर बने घर में रेत की कविताएं सुनाने से पहले उसी दिन सुबह सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय चले गये। कई तरह के साहित्यिक विवादों के बीच आजीवन लगभग मौन खड़ा एक साहित्यिक व्यक्तित्व नहीं रहा। एक ऐसा आदमी नहीं रहा जो हमेशा अपनी ही शर्तों पर जीता था और जिसने अपनी मान्यताओं के लिए भले ही तरह-तरह की आलोचनाएं झेलीं, पर समझौता नहीं किया। यह एक ऐसे कवि और शिल्पी का जाना है जिसने हिंदी कविता को छायावादी कुहासे से बाहर लाकर एक नयी भावभूमि दी, आधुनिक चेतना से उसका संस्कार किया। उनके संपादन में 'तार सप्तक' और फिर दूसरे और तीसरे सप्तकों के माध्यम से जो कवि और जो कविताएं प्रकाशित हुईं उन्होंने जैसे उस समय का काव्य-दृश्य ही बदल दिया। सप्तकों की यह 'नयी कविता' हिंदी के इतिहास में एक बड़ी घटना है: उसके साथ भाषा और संवेदना की नयी खिड़कियों-दरवाज़ों के खुलने की शुरुआत हुई। आज हिंदी में जो आधुनिक, विश्व-स्तर पर रख सकने लायक़ कविता लिखी जा रही है, वह शायद संभव न होती अगर उसके स्रोत पर वात्स्यायन का योगदान न हुआ होता।

भाषा के जितने रूप हो सकते हैं, वात्स्यायन उन सब में सक्रिय रहे। उनका 'शेखर : एक जीवनी' हिंदी का पहला आधुनिक उपन्यास था, और आज जब वात्स्यायन को हम एक उपन्यासकार के रूप में बहुत याद नहीं करते, 'शेखर' का एक अद्वितीय

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उपन्यास के रूप में महत्त्व बना हुआ है। 'शेखर' और दूसरे प्रेम उपन्यासों में फ़र्क़ यह है कि 'शेखर' लिजलिजी भावुकता का नहीं, गहरे रूमान का उपन्यास है। कहानी, निबंध, आलोचना, नाटक, यात्रावृत्त, डायरी, पत्रकारिता— सभी रूपों में उन्होंने अपने को अभिव्यक्त किया।

वात्स्यायन जी के बारे में निर्विवाद यह कहा जा सकता है कि वे हमेशा एक कवि की तरह जिये और उन्होंने जो कुछ किया, कविता की तरह किया। फ़ोटोग्राफ़ी, बाग़वानी, दूर-दूर की यात्राएं— सबमें कविता की-सी पूर्णता और तराश मिलती है। कविता के अलावा वे बहुत सी चीज़ें जानते थे— बढ़ईगीरी और कुम्हार के काम से लेकर बम बनाने तक के काम। लेकिन उनके परिचय में यह कहीं छपा नहीं मिलेगा कि वे मिट्टी के बर्तन बनाना भी जानते थे।

शायद इसलिए कि एक कवि और एक नागरिक के जीवन में, अनुभव और अभिव्यक्ति में, भोक्ता और रचना में जो आधुनिक फांक है, उसे वात्स्यायन अपनी संवेदना का ज़रूरी हिस्सा मानते थे। उनका मानना था : 'आजीविका नागरिक के प्रश्न होते हैं। यह नहीं कि कवि भूखा रहता है। अगर रहता है तो उसे उसके लिए तैयार रहना चाहिए। रचनाकार को अपने को ऐसी स्थिति में ज़रूर बनाये रखना चाहिए कि वह समाज को कुछ दे रहा है। यह नहीं कि उसे समाज से कुछ पाना है, जबकि नागरिक के लिए यह होता है कि उसे समाज से कुछ पाना भी है।'

वात्स्यायन जी के बारे में विवाद बहुत रहे हैं। बाद के वर्षों में विवादों की धुंध में उनकी रचनाएं भी खो जाती रहीं। उनके अभिजात्य, मौन और एक तरह की निर्लिप्ति को नकारात्मक गुण माना गया। धीरे-धीरे उनकी रचनाओं पर गहरा आलोचनात्मक विचार होना कम हो गया। वात्स्यायन जी को इसकी टीस रही और पचहत्तरवें जन्मदिन के अवसर पर एक बातचीत में उन्होंने कहा भी था : 'अगर हम ढेला भी फेंकें तो इमारत तो होनी चाहिए। हिंदी में कोई साहित्यिक पत्र नहीं जिसे आप किसी के सामने रखकर कह सकें कि यह रचना का नमूना है।...जहां कोई प्रमाण नहीं है और सब चुनौती देने वाले हैं, वह साहित्य स्वस्थ नहीं है। आज हिंदी की स्थिति मुझे यही लगती है।'

समुद्र, नदी, वन, वृक्ष, पक्षी, रेगिस्तान, सन्नाटा, मौन, दुख, करुणा जैसी मानवीय अस्तित्व की मूलभूत मूर्त या अमूर्त चीज़ें वात्स्यायन की कविता में बार-बार लौटती हैं। सत्रह संग्रहों में फैली उनकी कविता प्रकृति और मनुष्य के शाश्वत संबंध का फिर से आविष्कार करने वाली कविता है। वह प्रकृति और आत्मिक चेतना के समन्वय की कविता है।

उनकी हाल की कविताओं में एक नयी चिंता दिखती थी : घर। 'सदानीरा' नाम से छपी समग्र कविताओं के संकलनों से पहले उनका एक संग्रह आया था : 'ऐसा कोई घर आपने देखा है'। इसमें घर, आश्रय, शरण और स्थायित्व की केंद्रीय चिंता है :

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

'घर मुझे चाहिए:
घर के भीतर प्रकाश हो
इसकी भी मुझे चिंता नहीं है;
प्रकाश के घेरे के भीतर मेरा घर हो—
इसी की मुझे तलाश है'

कोई घर न बसानेवाले एक कवि का घर शायद पेड़ पर, हवा में, हरियाली के बीच हो सकता था। पर इस घर में बैठकर कविताएं सुनाने से पहले वात्स्यायन चले गये।

अप्रैल 1987

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कवि की ज़रूरत किसे है

गोरख पांडेय अकस्मात चले गये। वे प्रतिबद्ध कवि और जनगीतकार थे, क्रांतिकारी संस्कृतिकर्मी और दर्शनशास्त्र के अध्येता थे। इन सभी मोर्चों पर अभी उन्हें बहुत काम करना था। कविताएं लिखनी थीं, अपने भोजपुरी जनगीतों को दूर-दराज़ तक पहुंचाना था और दर्शन में भी नया कुछ करना था। पर शायद बार-बार लौटने वाली अपनी बीमारी और मानसिक विचलन से वे अंतिम रूप से निराश हो गये और जिस धोती को वे घर में पहनते थे उसकी रस्सी बनाकर पंखे से झूल गये।

आत्महत्या कवि की हो या कामगार की, वह जीवन की भीषणता का सामना न कर पाने, उसे झेल या सुलझा न पाने की असमर्थता का नतीजा होती है। उसके कारण सामाजिक ही होते हैं, पर उसे हम एक निजी कायरता कहते हैं। गोरख पांडेय की आत्महत्या इसलिए भी दुर्भाग्यपूर्ण और हैरतनाक लगती है कि वे कायर, पलायनवादी या हताश क़िस्म के व्यक्ति नहीं थे। सही है कि मानसिक असंतुलन के दौरे उन्हें कई बार पड़े और वे कोई दो महीने अस्पताल में रहकर लौटे थे, लेकिन उन्हें कभी जीवन और मृत्यु के बीच का फ़र्क़ ख़त्म हो जाने की बात करते हुए किसी ने नहीं सुना। दरअसल उनकी सारी कविता और सोच जीवन की निरर्थकता की वकालत करने वाले चिंतन के विरुद्ध थी। उनकी कविता में 'अत्याचारी के साथ लगातार होने वाली मुठभेड़ों' के बीच 'एक बूढ़ा माली हमारे मृत्युग्रस्त सपनों में फूल और उम्मीद' रख जाता था। उनके भोजपुरी गीत 'समाजवाद बबुआ धीरे-धीरे आयी', 'मेहनत के बारामासा' और 'हिलेले झकझोर दुनिया' पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार के संघर्षशील इलाक़ों में इतने लोकप्रिय हुए कि वे 'इप्टा' के सुनहरे दिनों की याद दिलाते थे। मार्क्सवादी-लेनिनवादी राजनैतिक संगठनों में आये बिखराव के बावजूद गोरख पांडेय सबके चहेते बने रहे थे।

इतनी लोकप्रियता पानेवाला एक कवि इस समाज में आख़िर आत्महत्या का रास्ता क्यों चुनता है ? यह सवाल बहुत पेचीदा है और इसका कोई आसान जवाब भी नहीं हो सकता। सामाजिक परिवर्तन का स्वप्न देखने वाले को उसकी राजनीति, मुक्तिबोध के शब्दों में, 'मिट्टी में गड़कर भी जीने' की शक्ति देती चलती है। लेकिन सच यह भी है कि गोरख पिछले दस-बारह साल से दिल्ली जैसे निर्मम शहर में एक द्वीप की तरह बसाये गये जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में पढ़ाई कर रहे थे। दूर देहात से आये छात्रों को यह विश्वविद्यालय एक मायालोक से कम नहीं लगता। जेएनयू की चट्टानें, स्वप्न जैसा भू-

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दृश्य, पढ़ाई, सैर, प्रेम, राजनीति, सब उन्हें एक रंगीन स्वप्नलोक की तरह अभिभूत करते हैं। इस स्वप्निल संसार में देवरिया के एक गांव से आये दर्शनशास्त्र के छात्र गोरख ने भी अपनी राजनीति और अपने प्रेम की खोज की।

प्रेम लेकिन उन्हें नहीं मिला। उनकी वैचारिक ज़रूरत तो पूरी हुई, पर आत्मिक ज़रूरत के लिए वे भीतर ही भीतर विकल रहे और शायद यहीं से उनका वह दिमाग़ी विचलन शुरू हुआ जिसे हमारा संवेदनशून्य होता हुआ समाज 'पागलपन' कहकर आगे बढ़ जाता है। निकारागुआ के महाकवि एर्नेस्तो कार्देनल अभिनेत्री मरलिन मनरो के बारे में अपनी एक कविता में कहते हैं कि 'उसे प्रेम की भूख थी और हमने उसे नींद की गोलियां दीं।' गोरख के संदर्भ में भी यह वाक्य याद आता है। गोरख को भी प्रेम की आंतरिक चाह थी, पर उन्हें इसकी जगह दिमाग़ दुरुस्त करने के लिए 'इलेक्ट्रिक शॉक' दिये गये। पैसे, ताक़त और सफलता की होड़ में ग़र्क़ हमारी व्यवस्था में प्रेम जैसी कोमल भावना भी सफल-समर्थ लोगों का 'चाय का प्याला' है। इस व्यवस्था में किसी संवेदनशील आदमी की प्रेम की तलाश उसे आख़िरकार मानसिक अस्पतालों या मनोरोग डॉक्टरों के दरवाज़े पर ले जाती है। गोरख पांडेय के साथ भी यह हुआ।

हमारा राजनीतिक ढांचा समाज को तेज़ी से ऐसे अंधकार की ओर ले जा रहा है जहां सिर्फ़ ताक़त की तूती बोलती है और जहां प्रेम के लिए शायद कोई जगह नहीं है। अपनी ही क्रूरताओं के सहारे आगे बढ़ती इस दुनिया में गोरख प्रेम खोज़ने आये थे जो उन्हें नसीब नहीं हुआ। इसलिए कि यह व्यवस्था प्रेम जैसी संवेदनाओं को निरर्थक और भुलाने लायक़ मानने लगी है। उसके लिए किसी संवेदनशील व्यक्ति का भी बहुत मतलब नहीं है। हमारी निर्मम और हिंसक होती राजनीति में तो यह सामाजिक संवेदनहीनता क़दम-क़दम पर नज़र आती है। यहां तक कि वामपंथी राजनीति भी इससे अलग नहीं। यह आकस्मिक नहीं है कि अपनी धुर वामपंथी राजनीति से भी गोरख कुछ हताश हो चले थे।

इस साल के पहले दिन रंगकर्मी सफ़दर हाशमी राजनीतिक गुंडों के हाथों शहीद हुए थे और जनवरी जाते-जाते कवि गोरख पांडेय की ख़ुदकुशी की ख़बर दे गयी। इन दोनों अस्वाभाविक मौतों में एक समानता है : वह यह कि हमारा ढांचा ऐसा बन चुका है जिसमें कवि या कलाकार या संवेदनशील व्यक्ति लगभग अवांछित हो चला है। उसकी ज़रूरत किसी को नहीं है। वह अगर न्याय के पक्ष और अन्याय के विरोध में हाथ उठाता है तो सफ़दर हाशमी की तरह मारा जाता है और अगर प्रतिरोध नहीं करता और भीतर ही घुटता जाता है तो उसे गोरख पांडेय की तरह एक दिन अपने को मार देना पड़ता है। अपनी एक कविता में गोरख ने शायद इसी तरफ़ इशारा किया था :

'भूल रहे वे / सबके ऊपर वह मनुष्य है
उसे चाहिए प्यार / चाहिए खुली हवा...'

जनवरी 1989

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अपनी दुनिया से जाने दुनिया के बच्चे

कुछ लोग होते हैं जिनके बारे में हम कल्पना भी नहीं कर पाते कि एक दिन वे नहीं रहेंगे। ऐसे व्यक्तियों की ख़ुशमिजाज़ी और मनुष्य होने की उनकी ऊष्मा दूसरों को भी जीवन की ऊर्जा देती रहती है। उनसे मिलना हर बार किसी प्रसन्नता, किसी मानवीय गुण से मिलना बन जाता है। सोमदत्त ऐसे ही लोगों में से थे। उनसे जब भी मुलाक़ात होती, वह रोज़मर्रा की ऊब, उदासी और भय के ख़िलाफ़ एक कार्रवाई जैसी चीज़ होती थी और मृत्यु नाम के जिस शब्द से कवि लोग आम तौर पर आक्रांत दिखते हैं, उसकी कोई जगह उनके जीवन में नहीं थी। इसीलिए यह विश्वास नहीं होता कि सोमदत्त नहीं रहे। यह यक़ीन और भी कठिन इसलिए है कि वे पचास साल की उस उम्र में चल दिये जो एक साहित्यकार की यात्रा में परिपक्वता पाने और रचना के नये आयाम खोजने की उम्र होती है। इस तरह उनका सफ़र बीच में ही टूट गया।

पर यह भी है कि पिछले आठ-दस वर्ष में सोमदत्त साहित्य में जितने सक्रिय रहे और जो काम उन्होंने किये वे किसी उपलब्धि से कम नहीं हैं। प्रगतिशील हिंदी कविता की परंपरा में उनकी कविता की आवाज़ अपने ठेठ देसी बिंबों और सरल भाषा के साथ अलग से सुनाई देती थी। 'रेल बोगदे में' के ज़रिये जीवन की अनगढ़ता का सम्मान करने वाले कवि के तौर पर उनकी जो पहचान बनी, वह बाद के दो संग्रहों 'क़िस्से अरबों हैं' और 'पुरखों के कोठार से' के साथ और भी मज़बूत हुई। 1983 में मध्य प्रदेश साहित्य परिषद का सचिव बनने के बाद उन्होंने परिषद की पत्रिका 'साक्षात्कार' का संपादन संभाला और उसका कायाकल्प कर दिया। हिंदी पत्रिकाओं की पहचान-विहीन भीड़ में 'पहल' और 'साक्षात्कार' जैसी गिनीचुनी पत्रिकाएं ही हैं जो समकालीन लेखन की प्रतिनिधि होने का एहसास कराती हैं। 'साक्षात्कार' के पहले संपादक शानी ने इस सरकारी पत्रिका को जो स्तरीयता दी थी, सोमदत्त ने उसकी पुनर्प्रतिष्ठा की और उसे कुछ विस्तार भी दिया। हिंदी का ऐसा कोई अच्छा कवि-कहानीकार न होगा जो 'साक्षात्कार' में न छपा हो या न छपना चाहता रहा हो। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और फिर नागार्जुन-शमशेर-त्रिलोचन की काव्यत्रयी पर 'साक्षात्कार' के विशेषांक स्थायी महत्त्व के हैं। 'साक्षात्कार' में एक ओर उन्होंने 'धरोहर' शीर्षक से पुराने साहित्यकारों की रचनाओं के पुनर्प्रकाशन का सिलसिला चलाकर पाठकों को विस्मृत होती जा रही विरासत का एहसास कराया तो दूसरी ओर समकालीन साहित्य की समझ का विस्तार करने के उद्देश्य से 'पाठक मंच' भी शुरू किया। विश्व

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कविता के अध्ययन और अनुवाद में भी उनकी गहरी रुचि थी। तुर्की के महाकवि नाज़िम हिकमत की कविताएं उन्होंने बड़े श्रम से खोज-खोजकर इकट्ठा कीं और उनका अनुवाद पुस्तकाकार प्रकाशित किया। समाजवादी देशों की कविताओं के सैकड़ों अनुवादों के अलावा युगोस्लाविया के वरिष्ठ कवि वास्को पोपा की कविताओं के उनके अनुवाद 'नन्ही डिबिया' नाम से प्रकाशित हुए हैं।

कविता, संपादन, अनुवाद और साहित्य परिषद के आयोजनों के ढेर सारे काम करते हुए सोमदत्त पशु चिकित्सक भी बने रहे, जो कि वे पहले से थे। साहित्य के सुखद संसार में आने के बाद भला कौन हिंदी कवि ढोर-डंगरों का डॉक्टर रहना चाहेगा? पर बीमार पशुओं का इलाज करना सोम को बहुत अच्छा लगता था। साहित्य का कितना भी बोझ हो, वे अंत तक पशुओं की सेवा करते रहे। मूक पशुओं की दुनिया उनकी कुछ कविताओं में भी जगह-जगह व्यक्त हुई है। दोस्त लोग मज़ाक़ में उन्हें 'घोड़ा डॉक्टर' कहते तो उनका जवाब होता : 'अरे, इन जानवरों से ही मुझे मनुष्य के व्यवहार को समझने की मदद मिली है।'

ऐसे माहौल में जहां लेखकों के बीच आपसी सरोकार तेज़ी से कम होते जा रहे हैं, सोमदत्त अत्यंत सहज ढंग से अपने लगावों को बचाये रहे। अपने समकालीनों के प्रति समझदारी और पुरानी पीढ़ी का सम्मान शायद ऐसे गुण थे जिनकी वजह से वे सबके प्रिय बने रहे। पुरानी और नयी पीढ़ी हो या वैचारिक असहमतियों के दो असहिष्णु ध्रुव हों, सोम उनके बीच हमेशा एक संवाद शुरू कराने की कोशिश करते थे। उनके साहित्यिक संस्कार मुक्तिबोध और हरिशंकर परसाई जैसे व्यक्तियों की छाया में पनपे थे और अंत तक वे अपनी वामपंथी प्रतिबद्धता से डिगे भी नहीं, हालांकि भोपाल में चल रहे सांस्कृतिक रूपवाद और आनंदवाद की चकाचौंध में यह काम उनके लिए काफ़ी मुश्किल रहा होगा। रूपवादी माहौल के बीच अपना जनवाद बचाये रखने में कुछ लोग चतुराई देख सकते हैं, पर सच यह है कि सोमदत्त की मानसिक बुनावट में साहित्यिक उठापटक और घटिया बहसों की जगह नहीं थी। वे इन्हें निरर्थक और क्षणिक मानते थे। अंदर से देहाती उनका मन ऐसे आधुनिकतावादी वाद-विवादों को कभी मंजूर नहीं कर पाया।

यह ग्रामीण संवेदना उनके स्वभाव और रचना में भी थी। उनकी कविताएं शहरों में आम तौर पर लिखी जा रही 'रिफ़ाइंड एंड पॉलिश्ड' कविताओं से एकदम अलग हैं और वे किसानी अनगढ़ता और खुरदरेपन की कलात्मक शक्ति को अभिव्यक्त करती हैं। वह सार्वभौमिक और सामान्यीकृत विचारों की बजाय अपनी स्थानीय संवेदना की कविता है, जिसके पास अरबों क़िस्से हैं और 'पुरखों के कोठार' से बीज निकालकर उम्मीद का बिरवा उगाने की तड़प है। यह कोई ओढ़ी हुई नहीं, बल्कि एक सरल और अविभाजित व्यक्तित्व के भीतर की सहज तड़प थी। दरअसल सोमदत्त के लिए व्यक्ति और कवि, व्यक्ति और परिवार तथा व्यक्ति और समाज के बीच ऐसा कोई विभाजन नहीं था जिसके बूते पर हमारी आधुनिक कविता की इमारतें बनी हैं। उनकी एक बेहद मार्मिक कविता इस

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बात को रेखांकित करती है :

'अपने बच्चे से तुमने जाने दुनिया के बच्चे
अपने बच्चे की बीमारी से तुमने जाने तमाम दुनिया के रोग
अपने बच्चे की किलकारी से
तुमने जाने तमाम दुनिया के सुख
अपने बच्चे से अपनी मां से अपने भाई से
अपने पड़ोसी से अपने प्रेम़ से
अपने दुश्मन से तुमने जानी
हमने जानी तमाम दुनिया तमाम लोग।'

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जीवंत कविता का सम्मान

साहित्य के नोबेल पुरस्कार की महिमा भले ही घट रही हो, उसे पानेवालों का महत्त्व कभी नहीं घटा। कभी-कभी ये पुरस्कार राजनीतिक या साहित्येतर कारणों से दिये गये, लेकिन पुरस्कृत साहित्यकारों की मार्फ़त सारी दुनिया उनके देशों और भाषाओं की सांस्कृतिक अस्मिता से परिचित होती रही है। 1982 में जब कोलंबिया के उपन्यासकार गाब्रियेल गार्सीया मार्केस के उपन्यास 'एकांत के सौ वर्ष' को नोबेल पुरस्कार मिला तो यूरोप के बाहर के देश शायद पहली बार लातीनी अमेरिकी उपन्यास की ऊर्जा और शक्ति से परिचित हुए। इस पुरस्कार का यह महत्त्व अभी बरक़रार है कि कई बार इसके ज़रिये दूसरी भाषाओं के लिए अल्प-ज्ञात या अज्ञात साहित्यकार संसार में उजागर हो उठते हैं, साहित्य और चिंतन की विशाल बिरादरी का हिस्सा हो जाते हैं। 1984 का नोबेल पुरस्कार पाने वाले चेकोस्लोवाकिया के प्रमुख कवि यारोस्लाव साइफ़र्त ऐसे ही कवि हैं जिन्हें पुरस्कार मिलना साहित्य से लगाव रखने वालों के लिए एक सुखद आश्चर्य की बात है। रॉयल स्वीडिश अकादेमी ने यह पुरस्कार ऐसी कविता के लिए दिया है जो 'ताज़गी, एंद्रिकता और समृद्ध अन्वेषणपरकता से भरपूर है और मनुष्य की अदम्य चेतना की मुक्तिदायी छवि' को प्रस्तुत करती है।

तिरासी साल के यारोस्लाव साइफ़र्त को जब नोबेल पुरस्कार मिलने की घोषणा हुई तो वे हृदय-रोग के इलाज के सिलसिले में प्राग के एक अस्पताल में भर्ती थे। पुरस्कृत होने की ख़बर उन्होंने सहज भाव से सुनी। प्राग में स्वीडन के दूतावास के जिस अधिकारी ने उन्हें सबसे पहले यह सूचना दी, उनके अनुसार,' पहले तो साइफ़र्त को कुछ समझ में नहीं आया। वे बहुत वृद्ध हैं और अब उन्हें किसी बात पर आश्चर्य नहीं होता। फिर भी वे प्रसन्न थे, बहुत प्रसन्न।' रूस की बात होती तो शायद सरकार यह समाचार दबा देती या तीन-चार दिन बाद उसका मामूली-सा ज़िक्र करती। लेकिन पूर्व-यूरोपीय देशों की अपनी परंपरा के अनुरूप, चेकोस्लावाकिया की सरकारी प्रेस एजेंसी 'चेतेका' ने तीन घंटे बाद ही सही, यह समाचार जारी किया और साइफ़र्त का संक्षिप्त जीवन परिचय भी छापा जिसमें व्यवस्था से उनकी असहमति का तो ज़िक्र नहीं था, लेकिन यह कहा गया कि नात्सियों के आधिपत्य के दौरान उनकी कविताएं जनता के संघर्ष में बहुत प्रेरणा देती रहीं।

यारोस्लाव साइफ़र्त नोबेल से सम्मानित होने वाले चेक भाषा के पहले कवि हैं। उन्हें या उनके क़रीबी लोगों को शायद यह पुरस्कार मिलने की कल्पना नहीं रही होगी,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

क्योंकि कई वर्षों से वे सार्वजनिक जीवन से दूर एकांतवास में थे। चेकोस्लोवाकिया की कम्युनिस्ट पार्टी की आंख की किरकिरी तो वे बहुत पहले से थे, 1968 में सोवियत टैंकों के प्रवेश का विरोध करने के बाद लेखक संघ के अध्यक्ष पद से भी उनकी छुट्टी हो गयी थी। दुब्चेक के छोटे से 'उदारवादी दौर' में उन्होंने कट्टर नीतियों के शिकार हुए लेखकों के पुनर्वास में हिस्सा लिया और 1977 के मानवाधिकार मांगपत्र पर हस्ताक्षर करने वालों में वे भी थे।

कुछ हैरतनाक यह है कि साइफ़र्त को पुरस्कार मिलने पर ज़्यादा चर्चा इन्हीं तथ्यों की हुई और उन्हें कवि की बजाय कम्युनिस्ट-व्यवस्था के विरोधी के रूप में अधिक प्रचारित किया गया। वास्तविकता यह है कि साइफ़र्त सर्वहारा के कवि, मनुष्य की मुक्ति चेतना के ज़बर्दस्त पक्षधर, एक ज़्यादा मानवीय व्यवस्था के समर्थन में चेक राज्य-तंत्र के आलोचक और अपने देश, अपनी जनता के सुख-दुख के साझीदार हैं, और संक्षेप में, 'बूर्ज़्वा या साम्यवाद विरोधी' कवि नहीं हैं।

1901 में जन्मे यारोस्वाल साइफ़र्त उन कवियों में से हैं जो सिर्फ़ अपनी कविता के लिए नहीं, बल्कि कवि कर्म के लिए, उसके बुनियादी मूल्यों और सामाजिक भूमिका के लिए संघर्ष करते हैं। 1921 में वे चेकोस्लोवाकिया की कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बने और एक 'बड़े सर्वहारा कवि' के रूप में माने जाने लगे। ऐसे कवियों की पीढ़ी शायद पूरी दुनिया में ही तेज़ी से मिट रही है, जो अच्छे और बुरे दोनों वक़्तों में अपने लोगों से जुड़े रहते हैं और जब हुकूमतें— वे पूंजीवादी हों या समाजवादी— उन्हें लोगों से काट देती हैं तो वे किसी दूसरे ख़ेमे की शरण में जाकर मानवता और आज़ादी पर अत्याचार की गुहार लगाते हुए अपनी साहित्यिक छवि चमकाने की बजाय चुपचाप अपने घर चले जाना पसंद करते हैं। ऐसे कवि अज्ञात रहते हैं क्योंकि उनके पीछे कोई शोर नहीं रहता। साइफ़र्त अगर चेकोस्लोवाकिया से बाहर कम ही जाने गये तो इसकी वजह अपनी जनता के सच्चे कवि के रूप में उनकी प्रतिबद्धता में ही देखी जानी चाहिए।

साइफ़र्त 1922 में कम्युनिस्ट पार्टी के अख़बार 'रूदे प्रावो' के संपादक हुए और इसके बाद से ही पार्टी तंत्र और उसकी सांस्कृतिक नीतियों से उसकी असहमति शुरू हुई। 1929 में उन्होंने पार्टी छोड़ दी लेकिन अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता नहीं छोड़ी। अपने समकालीन लेखकों के साथ उन्होंने एक दस्तावेज़ पार्टी को दिया था, जिसका नाम ही था : 'सात कम्युनिस्ट लेखकों का घोषणा पत्र।' 1945 में छपे उनके संग्रह 'टोपी भर धरती' की कविताएं फ़ासिज़्म के ख़िलाफ़ लड़ाई में जनता और मानवता का साथ देती हुई कविताएं हैं।

साइफ़र्त ने जब लिखना शुरू किया, वह कविता की दुनिया में हलचलों का समय था। फ्रांस में कला और कविता का वसंत था। अतियथार्थवाद और दादावाद की उत्तेजक ताज़गी से चेक भाषा भी अछूती नहीं रही और साइफ़र्त, उनके समकालीन एक और बड़े कवि वितेस्लाव नेज़्वाल की उस दौर की कविताएं जादुई बिंबों, फ़ेंटेसी और स्वप्नों का

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विचित्र संसार रचती थीं। फ्रांस के कला-कविता आंदोलनों की गूंज चेक भाषा में 'काव्यवाद' के रूप में सुनायी दी। लेकिन इस अतियथार्थवाद को जल्दी ही पूंजीवादी मंदी, सामाजिक हताशा और फिर नात्सी बर्बरता का सामना करना पड़ा और साइफ़र्त की पीढ़ी ने एक नयी तरह की कविता लिखने की ज़रूरत महसूस की—तीखे यथार्थ की कविता, जिसमें असंतोष और गुस्सा था, एक तेज़ धार थी और 'अपने देश और लोगों की ज़िंदा रहने की अदम्य आकांक्षा थी।'

समाजवादी इतिहास की एक विडंबना यह है कि जिन लेखकों-कलाकारों ने क्रांति और सामाजिक बदलाव में सार्थक भूमिका अदा की थी, बाद में ज़्यादातर का कमोबेश मोहभंग होता गया। यह बहस-तलब है कि इसकी वजहें कम्युनिस्ट पार्टियों की सांस्कृतिक समझ में छिपी हैं या साम्राज्यवादी ख़तरों से पैदा हुई असुरक्षा में, लेकिन इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि समाजवादी अर्थव्यवस्था का कोई चेहरा भले ही कुछ बना हो, समाजवादी संस्कृति ने कोई आकार नहीं लिया और 'नये इंसान' का महास्वप्न धुंधला पड़ गया।

पश्चिमी बौद्धिक संसार को आम तौर पर समाजवादी ख़ेमे के देशों के वे लेखक ही महान नज़र आते हैं जो प्रतिष्ठान के खुल्लमखुल्ला विरोधी, कम्युनिज़्म से मुंह बिचकाने वाले और तथाकथित मुक्त, खुले समाज के पक्षधर हों और राजनीतिक कारणों से अपने देश से बहिष्कृत या निर्वासित हों। कुछ वर्ष पहले जब रूसी उपन्यासकार सोलझेनित्सीन को और 1980 में ब्रिटेन में रह रहे पोलैंड के कवि चेस्वाव मिवोश को नोबेल पुरस्कार मिला तो पश्चिमी प्रेस ने इसे जैसे समाजवाद पर साहित्य की लगभग विजय क़रार दिया। पोलैंड के ज़्बिगन्यू हेरबेर्त या तदेऊष रूज़ेविच जैसे बड़े कवियों की बजाय चेस्वाव मिवोश को नोबेल दिये जाने का कारण यही था कि वे समाजवाद से ख़ार खाते हैं। साइफ़र्त को नोबेल पुरस्कार दिये जाने पर भी विलक्षण प्रतिक्रियाएं हुई हैं। उन्हें चेकोस्लोवाकिया का बड़ा कवि तो ज़रूर माना गया है, पर आपत्ति इस बात पर है कि वे अंतर्राष्ट्रीय स्तर के कवि नहीं हैं, उनसे कहीं बड़े लेखक तो मिलान कुंदेरा हैं जो चेकोस्लोवाकिया की घुटन से निकलकर पेरिस की आज़ाद हवा में रह रहे हैं! मिलान कुंदेरा अगर देश छोड़ कर नहीं जाते तो उन्हें नोबेल मिलने पर भी मुमकिन था इसी तरह की शंकाएं उठाई जातीं।

स्तालिन के ज़माने से लेकर अब तक समाजवादी ख़ेमे के देशों से लेखकों के भाग निकलने की घटनाओं पर दुनिया भर में बहसें हुई हैं। उनमें से अनेक लेखक शहीदाना अंदाज़ में पूंजीवादी अभिव्यक्ति के सेवक भी बने हैं। लेकिन निर्वासन में जाने वालों की तुलना में ऐसे साहित्यकारों की तादाद कहीं ज़्यादा हैं जो कितने ही काले दौरों में, यातनाओं के बीच अपनी धरती पर रहे— गुमनामी, अपमान और प्रताड़नाओं के अंधेरे में। स्तालिन-दौर में पास्तेरनक और इसाक बाबेल जैसे लेखक भी थे जिन्होंने अपनी ज़मीन छोड़कर जाना ग़वारा नहीं किया और येवेग्नी ज़मयातिन जैसे लेखक भी, जो घोर दुख से भरे हुए

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गये और घर से बाहर जाकर जिन्होंने एक भी शब्द नहीं लिखा। पास्तेरनक जो नोबेल लेने भी नहीं जा पाये और सोलझेनित्सीन, जो पश्चिम जाकर कम्युनिस्ट विरोधी प्रचारक बन गये, के उदाहरणों से यह फ़र्क़ समझा जा सकता है। चेकोस्लोवाकिया और दूसरे पूर्व-यूरोपीय देश भी अपवाद नहीं रहे हैं। साइफ़र्त और उनकी पीढ़ी के अनेक कवियों व्लादीमिर होलान, नेज़्वाल, मीरोस्लाव होलुब ने राजसत्ता और पार्टी द्वारा सार्वजनिक जीवन से काट दिये जाने के बावजूद अपनी धरती पर, अपने घर में रहना पसंद किया। कई साल उनकी कविताएं पाठकों का मुंह नहीं देख पायीं, संग्रह नहीं छपे, तब भी वे लिखते रहे। विचित्र संयोग है कि चेकोस्लोवाकिया के एक और समर्थ कवि व्लादीमिर होलान के साथ भी यही सलूक हुआ। 1940 के आसपास अपनी फ़ासिज़्म विरोधी कविताओं के लिए प्रसिद्ध इस कवि को 1948 के बाद 'साहित्यिक नौकरशाहों' ने 'रूपवादी' करार दिया और 1963 तक उनका कोई संग्रह नहीं छपने पाया। साइफ़र्त की तरह होलान भी अपने घर में बंद हो गये।

आज जबकि ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस में कविता में एक बड़ा शून्य है, सबसे अधिक जीवित कविता के लिए हम पूर्व-यूरोपीय देशों की ओर ही देखते हैं। लातीनी अमेरिकी देशों में उपन्यास अगर एक सांस्कृतिक शक्ति बना है तो पूर्व-यूरोपीय समाज कविता में अपना चेहरा पहचानता है। कविता वहां हर वक़्त एक सामाजिक उपस्थिति है। हिंदी में कवि का लोकप्रिय होना, उसके संग्रह की हज़ारों प्रतियां बिकना लगभग एक जुर्म है और लोकप्रियता की माला हमने कवि सम्मेलनी तुक्कड़ों और गलेबाज़ों के गले में ही डाल रखी है, लेकिन पूर्व-यूरोपीय देशों में कविता की समाज में एक निश्चित सम्मानित जगह और सार्वजनिक भूमिका है। पोलैंड के कवि रूज़ेविच ने तो एक इंटरव्यू में यहां तक कहा था कि पोलैंड में कविता चर्च या धर्म की जगह ले सकती है (यह बात दीगर है कि उनकी भविष्यवाणी सच नहीं निकली, पर उनका इशारा इन देशों में साहित्य की सामाजिकता की तरफ़ था)। इन देशों के सभी समर्थ कवियों की तरह साइफ़र्त भी इतने लोकप्रिय और अपने लोगों को इतने संबोधित रहे हैं कि चेक सरकार को 1979 से 1982 के बीच उनकी कविताओं के संग्रह छापने पड़े।

चेकोस्लोवाकिया और दूसरे पूर्व-यूरोपीय देशों में सामाजिक जीवन में कविता की जगह की वजहें राजनीति में ढूंढ़ी जाती हैं। यह भ्रांति बन चुकी है कि वहां की राजसत्ताएं सांस्कृतिक दमन पर (भी) टिकी हैं और कविता प्रतिरोध की ताक़त के रूप में उभरी है। लेकिन इसकी वजहें इन देशों के इतिहास से निकली हैं। साइफ़र्त, होलान, नेज़्वाल उस पीढ़ी के कवि हैं जो भीषण उथलपुथल और युद्ध के दौर से गुज़री, जिसने बड़ी मानवीयताओं और बड़ी क्रूरताओं के बीच अपनी यात्रा की और अंत में समाजवाद के 'नये इंसान' का महास्वप्न और उसे कुतरती हुई समाजवादी नौकरशाही भी देखी। उनकी कविता में कई संस्कृतियों के आने-जाने की गवाही है। इस मामले में चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड, युगोस्लाविया के कवि अपनी सारी मौलिकता और अलग पहचान के बावजूद कुछ एक जैसे हैं। ज़िंदगी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

में जो कुछ फूहड़, गंदा और अमानवीय है उसके प्रति विडंबना-भरी घृणा और मानवीय मुक्ति की गहरी आस्था इन सभी कवियों को एक करती है और शायद यही वजह है कि तीसरी दुनिया के देशों में उनकी कविता अपनापे से पढ़ी जाती है।

यह भी राहत की बात है कि नोबेल पुरस्कार देने वाली रॉयल स्वीडिश अकादेमी को लातीनी अमेरिकी और पूर्व-यूरोपीय देशों का सार्थक साहित्य नज़र आने लगा है। अपनी दृष्टि को थोड़ा और विस्तार देकर अगर वह अफ़्रीक़ी और एशियाई देशों में लिखे जा रहे महत्त्वपूर्ण साहित्य की भी खोज करे तो यह उसकी घटती प्रतिष्ठा को बचाने में मददगार ही होगा। यूरोप के धनी देशों में ऐतिहासिक चेतना की समाप्ति के साथ साहित्य का भविष्य भी बंद है, जबकि पिछड़े कहे जाने वाले देशों में जो कुछ लिखा जा रहा है वह अपने इतिहास की स्मृति और परिवर्तन की आधुनिक उथलपुथल— दोनों से जुड़ा हुआ है।

जून 1984

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सन्नाटे का स्थापत्य

स्पानी कवि ओक्तावियो पास का नाम नोबेल पुरस्कार के लिए कुछ अर्से से चर्चा में था। नोबेल समिति ने अपनी पुरस्कार घोषणा में पास के साहित्य के मौजूद व्यापक फलक, संवेदनशील बौद्धिकता और मानवीय समग्रता को रेखांकित किया है और यह भी कहा है कि पास को यह पुरस्कार दरअसल एक ऐसे स्पानी लेखक का सम्मान है जिसका दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय रहा है। एक सुखद बात यह है कि इससे पिछले वर्ष का नोबेल पुरस्कार भी स्पानी भाषा के उपन्यासकार कामीलो ख़ोसे सेला को दिया गया था और इस बार भी स्पानी के ही कवि को मिला है। नोबेल पुरस्कारों के इतिहास में यह पहली घटना है और इस तथ्य को उजागर करती है कि लातीनी अमेरिकी देशों और स्पानी जैसी भाषा में आज बहुत जीवंत साहित्य लिखा जा रहा है और अपनी ऊर्जा से सारी दुनिया के साहित्य को भी प्रभावित कर रहा है। औद्योगिक रूप से जो पश्चिमी समाज उन्नत माने जाते हैं वहां उपभोक्ता बाज़ार ने साहित्यिक संस्कृति को कहीं गहरे दबा दिया है। दिलचस्प यह है कि अमेरिका और ब्रिटेन में भी यह धारणा है कि अच्छा साहित्य या तो लातीनी अमेरिकी या अफ़्रीक़ी देशों से ही आयेगा।

लातीनी अमेरिका के साहित्यकारों और उनके सृजन की एक बड़ी शक्ति है उनकी स्थानीयता। पाब्लो नेरूदा, राफ़ायेल आल्बेर्ती और एर्नेस्तो कार्देनल जैसे कवि हों या नोबेल पुरस्कार प्राप्त गाब्रियेल गार्सिया मार्केस या मारियो वर्गास योसा जैसे उपन्यासकार हों— स्पानी भाषा के प्राय: सभी कवि-लेखक अपनी धरती के परिवेश, इतिहास, संस्कृति, स्मृति, रोमांच और भूगोल से बहुत गहरे जुड़े रहे हैं। उनकी संवेदना की रचना अपनी धरती की भौतिक वस्तुओं से हुई है और शायद इसी स्थानीय संवेदना की सघनता के कारण उनका साहित्य सार्वभौमिक स्वीकृति हासिल कर पाया है। ओक्ताविओ पास भी अपने देश मैक्सिको की संस्कृति, वहां की पुरानी आस्तेक सभ्यता की ऊंचाइयों और वर्तमान यथार्थ के रहस्यों को खोजने वाले कवि-चिंतक हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि उनकी कविता को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता मिलने से काफ़ी पहले मैक्सिकी मनुष्य के बाहरी और भीतरी यथार्थ में झांकनेवाले निबंधों की उनकी पुस्तक काफ़ी चर्चित हुई, जिसका नाम था : 'एकांत का चक्रव्यूह'। इसके निबंधों में पास ने मैक्सिकी मुखौटों के प्रतीक के ज़रिये अपने समाज और मनुष्य के व्यक्तित्व की एक तीखी हड़ताल की थी और यह पुस्तक विवाद का विषय भी बनी। 'एकांत का चक्रव्यूह' के साथ पास एक प्रखर विचारक के रूप में उभर कर आये।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पास की कविता भी बौद्धिकता से भरी हुई है और उसकी विषय-वस्तु 'ज़्यादातर आधिभौतिक और रहस्यात्मक है। उसका स्वरूप जटिल है और अनेक बार पास का चिंतक व्यक्तित्व उनमें मुखर दिखाई देता है। अपनी एक कविता में वे कहते हैं : 'मेरा कहा मिट जाता है/ एक शब्द से दूसरे शब्द तक जाते हुए/ मैं जानता हूं मैं ज़िंदा हूं दो वाक्यांशों के बीच।' मिटने और ज़िंदा होने, न होने और होने की इस द्वंद्वात्मकता में पास मनुष्य के सनातन अस्तित्व और समय में उसके क्षणिक अस्तित्व या अनस्तित्व के सवालों का सामना करते हैं। दरअसल शाश्वतता और क्षणिकता के बीच जितने भी विरोधाभास हैं वे पास की बौद्धिक और काव्यात्मक यात्रा में प्रमुख सवाल बनकर आये हैं। मनुष्य की आत्मा, उसके होने की वास्तविकता और न होने की नियति से साक्षात्कार करती उनकी कविता का शिल्प काफ़ी सघन है और वे किसी संगीत संरचना या सिंफ़नी की तरह अपनी कविता का स्थापत्य गढ़ते हैं।

कवि, चिंतक और निबंधकार के अलावा ओक्तावियो पास के व्यक्तित्व का एक और पहलू है— राजनयिक का। कहते हैं, राजनयिक सेवा मनुष्य के विचारों का भी सरकारीकरण कर देती है। पर पास के साथ इसके उलट हुआ है। वे 1962 से 1968 तक भारत में मैक्सिको के राजदूत रहे। दरअसल भारत-प्रवास पास के बौद्धिक जीवन में एक प्रमुख पड़ाव साबित हुआ। पास को भारतीय सभ्यता के आश्चर्यलोक की झलक पहली बार 1955 में मिली थी जब वे युवा कवि के रूप में बंबई आये और एलिफ़ेंटा और अजंता की गुफाओं और चित्रों से अभिभूत होकर लौटे। राजदूत के रूप में दुबारा भारत आने पर उन्होंने प्राचीन ग्रंथों, पुरागाथाओं, बौद्ध दर्शन, तंत्र आदि का अध्ययन किया और वर्तमान जीवन को क़रीब से देखा। दिल्ली में अनेक कवियों और चित्रकारों से उनकी मित्रता रही। पास एक तरह से भारतीय जीवन में घुल-मिल गये। भारत की तरह मैक्सिको की संस्कृति भी बहुत प्राचीन रही है और वहां की आस्तेक सभ्यता और हमारे अतीत में कई समानताएं मिलती हैं। भारतीय संस्कृति से पास के प्रभावित होने की एक वजह शायद यह भी थी। भारत को पास ने किसी सैलानी निगाह से नहीं, बल्कि एक जिज्ञासु और एक शिष्य के तौर पर देखा-जाना और इससे उनकी कविता में भी बदलाव आया। भारतीय विषयों पर उन्होंने अनेक कविताएं लिखीं जो उनके संग्रह 'लादेरा एस्ते' यानी 'पूर्वी दिशा' में संकलित हैं। 'वृंदावन' शीर्षक की कविता में पास कृष्ण के मिथकीय चरित्र और उनकी ब्रजभूमि के बाहरी यथार्थ को मानव-मन के यथार्थ के साथ रखकर देखते हैं और वृंदावन की यात्रा को एक तरह से आत्मिक उथलपुथल की यात्रा बना देते हैं। 'मौसम की मार से जीर्णशीर्ण खंभों' और 'भिखारियों की दोहरी पांत' के बीच पास उस इतिहास और स्मृति को पहचानते हैं जो आज भी अपने को खोजती है। एक जगह वे कहते हैं :

'अपने समय में उल्लसित
पूरा ब्रह्मांड एक मोरपंख
आंखें असंख्य हैं

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आंखें अन्य प्रतिबिंबित
अनुकूलन सुरों का
सिर्फ़ एक नेत्र का अनुगुंजन
अकेला सूर्य एक
छिपा हुआ'

'अमीर ख़ुसरो का मज़ार', 'हुमायूं का मक़बरा', 'लोधी गार्डन', 'चित्रकार स्वामीनाथन के लिए' आदि कई कविताओं में पास ने भारतीय इतिहास, स्मृति और यथार्थ से साक्षात्कार किया है। इन कविताओं में पास खंडहरों में दिखते 'सन्नाटे के स्थापत्य' का वर्णन करते हैं, पर आसपास खड़े भिखारी भी उनकी निगाह से बाहर नहीं रहते। वे घोर ग़रीबी भी देखते हैं और फूलों और संगमरमर को भी देखना नहीं भूलते।

पास का भारत-प्रवास एक और अर्थ में महत्त्वपूर्ण है। 1968 में मैक्सिको में हुए ओलंपिक खेलों के दौरान वहां एक ज़बर्दस्त छात्र आंदोलन शुरू हुआ था। इस आंदोलन को सख़्ती से कुचला गया। उन दिनों भारत में रह रहे पास इस घटना से बहुत क्षुब्ध हुए और उन्होंने अपने समय के प्रति सजग कवि का दायित्व निभाते हुए राजनयिक सेवा को ठुकरा दिया। उनका त्यागपत्र तब अंतर्राष्ट्रीय चर्चा का विषय बना था। इसलिए भी कि पास जैसे संयमित, आध्यात्मिक से लगनेवाले कवियों से यह उम्मीद कम ही होती है कि वे किसी सामाजिक-राजनीतिक घटना पर ऐसी प्रतिक्रिया करेंगे। पर पास के लिए एक कवि का नैतिक काम राजदूत के राजनीतिक काम से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था। राजदूत के तौर पर विदा लेने के बाद भी पास ने भारत से अपना सांस्कृतिक संपर्क बनाये रखा। उन्होंने दो बार भारत की यात्रा की। 1984 में वे नेहरू स्मारक व्याख्यामाला में व्याख्यान देने के लिए आये थे, पर श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या हो जाने के कारण यह कार्यक्रम स्थगित हो गया। फिर यह व्याख्यान उन्होंने 1985 में दुबारा आने पर दिया और उन्हीं दिनों प्रसिद्ध मलयाली लेखक तकषी शिवशंकर पिल्लै को ज्ञानपीठ पुरस्कार भी प्रदान किया।

पास शुरू में कविता के अतियथार्थवादी आंदोलन से प्रभावित रहे, फिर मार्क्सवाद के भी संपर्क में आये और बाद में अध्यात्मवाद में उनकी दिलचस्पी रही। लेकिन कोई विचार उन्हें हमेशा के लिए बांध नहीं पाया। आज भी वे विचारों के बंधन की बजाय विचारों की मुक्ति में विश्वास रखते हैं और मानवीय गरिमा और संस्कृति की वैश्विक एकता को राजनीतिक विचारधाराओं से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संरचना

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लेखक की रोटी

किसी कवि या लेखक की रचना पर हमारे समाज में कभी-कभी कोई चर्चा या बहस हो जाती है, पर लेखक की रोटी के बाबत शायद कोई बात नहीं करता। शायद बहुत समय बाद ओड़िया के प्रसिद्ध कवि सच्चिदानंद राउतराय ने इस सवाल को उठाया है। अपनी कविता के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार लेते समय उन्होंने देश में लेखक की आर्थिक असुरक्षा का ज़िक्र करते हुए कहा कि कोई भी ईमानदार लेखक अपनी पुस्तकों से होने वाली आय पर नहीं जी सकता। उसे सरकारी या व्यावसायिक संस्थाओं में काम करने को विवश होना पड़ता है और साहित्यिक कार्यकलाप उसके लिए गौण हो जाते हैं। ऐसे में वह स्थायी महत्त्व की रचना नहीं कर सकता। कवियों की हालत इस मामले में और भी गंभीर है।

वैसे, समाज का वास्तविक सरोकार लेखक की रचना से होता है, क्योंकि लेखन ही उसकी सामाजिक अभिव्यक्ति और कर्म है। वह कैसे अपनी रोटी ग्रहण करता है, यह समाज की चिंता का विषय नहीं होना चाहिए। पर हमारे यहां लेखक के जीवन-यापन का सवाल सचमुच बहुत विकट है। प्रेमचंद ने भारतीय किसान के बारे में जो कहा था, उसे भारतीय लेखक पर भी लागू किया जा सकता है। लेखकों की ग़रीबी और भूख की अनेक कहानियां हैं और हम बिना किसी आश्चर्य के सुनते हैं कि किस तरह कई लेखकों ने कई-कई दिन भूखे बिताये, कभी शहतूत या गुड़-चना खाकर गुज़ारा किया, किस तरह भुवनेश्वर जैसी प्रतिभा की भूख ने लिखना दरकिनार करके उन्हें छोटी-छोटी चोरियां करने को मजबूर कर दिया। शमशेर, त्रिलोचन, नागार्जुन आदि के आर्थिक अभाव की कहानियां भी लोग जानते हैं। हम निराला के आख़िरी असंतुलित दिनों को याद कर सकते हैं जिन्हें हिंदी के सफल लोग उनकी 'विक्षिप्तावस्था' कहते हैं। पर वे 'जब कड़ी मारें पड़ीं दिल हिल गया' के कठिन जीवन की ही परिणति थे। हिंदी ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं में हमें लेखकों के भूख और ग़रीबी में चुपचाप मर-खप जाने की घटनाएं मिल जायें तो कोई आश्चर्य नहीं। आर्थिक अनिश्चितता और भौतिक भविष्य की असुरक्षा में तो शायद अधिसंख्य लेखक अपना जीवन बिताते हैं।

साहित्यिक व्यक्तित्व और समाज की आवाज़ के रूप में एक लेखक की पहचान तभी होती है जब वह किसी विभूति में बदल जाये या व्यवस्था के ढांचे में कोई शक्ति या सफलता हासिल कर ले। पर विभूतिमय बनते-बनते हिंदी लेखक का जीवन इतना जीर्ण-

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

शीर्ण हो चुका है कि वह पुरस्कार और सम्मान की शक्ल में की जाने वाली पहचान का भी स्वाद नहीं ले पाता। कुछ लाख टके या अलंकरण वग़ैरह उसके जीवन की जर्जरता को, उसके दुख की जीवन-कथा को नहीं बदल सकते। हिंदी के नामी पुरस्कारों पर एक नज़र डालें तो दिखेगा कि वे ज़्यादातर कई पतझड़ पार कर चुके लेखकों को ही मिले हैं और कइयों को तो तब भी नहीं मिले। पुरस्कारों के बाद किसी कवि या लेखक ने कोई महान कृति लिखी हो, इसका भी प्रमाण नहीं मिलता। यानी यह पहचान तभी होती है जब लेखक साहित्यिक निवृत्ति के दौर में पहुंच जाये।

इन पहचानों के बाहर भी बड़ी तादाद उन लेखकों की है जो छोटे-बड़े शहरों और क़स्बों में आजीवन साहित्यिक संघर्ष करते रह जाते हैं। जो कवि अपनी जड़ें छोड़कर महानगरों में विस्थापित बनकर आते हैं, उन्हें वहां उपलब्ध ताक़तवर प्रचार-माध्यमों का अनायास सहारा मिल जाता है। ऐसे कवि-लेखक एक क्षीण-सी आर्थिक सुरक्षा पा लेते हैं। उन्हें कल की रोटी की ज़्यादा चिंता नहीं करनी पड़ती और बेर्टोल्ट ब्रेष्ट के शब्दों में, वे 'अपने तंबाक़ू, शराब और अख़बार के साथ पहले बेचैन और अंततः संतुष्ट' हो जाते हैं। पर इस भ्रामक-सी संतुष्टि का मूल्य भी उन्हें अपनी संवेदनशीलता और रचनात्मकता से चुकाना होता है। उन्हें 'तंबाक़ू, शराब और अख़बार' मुहैया करने वाली व्यवस्था उनसे अपनी रचनात्मकता की धार कुंद करने, अपनी संवेदनशीलता को छिलके की तरह उतारने और जीवन को एक भोथरे-पिलपिले परिप्रेक्ष्य में पहचानने की मांग करती है। यह मांग इतनी अप्रत्यक्ष और भीषण है कि लेखक झुकते चले जाते हैं और इसका उन्हें पता भी नहीं चलता। वे स्वीकार कर लिये जाते हैं, पर अपने लिखने के कारण नहीं, लिखने से दूर होते जाने की प्रक्रिया के कारण, और स्वीकृति की यह सीमा दूर होने की सीमा के आधार पर ही तय होती चलती है। हिंदी में ऐसे लेखक उदाहरणों की तरह मौजूद हैं जो अपार प्रतिभाशाली, विद्रोही और क्रांतिकारी थे, और जिन्हें सत्ता और व्यवस्था ने अपने डैनों की छाया में इस क़दर लिया कि उनके निरापद जीवन से अंततः लेखक का बहिष्कार हो गया है। फिर उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें निजी पश्चाताप और क्रंदन के सिवा कुछ ख़ास नहीं रहा।

पश्चिम के कई देशों में शायद यह स्थिति नहीं है। वहां आम तौर पर जीवन-यापन की चिंता में पड़े बग़ैर लेखक आसानी से रचना में लीन रह सकता है। वह विद्रोह भी कर सकता है और मज़े से रोटी भी खा सकता है। सुनते हैं फ्रांस के लेखक-विचारक ज़्यां पॉल सार्त्र के पास एक बहुत बड़ा पुस्तकालय था। मोटा चश्मा लगाये और पाइप सुलगाये वे किताबों में डूबे रहते। उसकी आजीवन प्रेयसी सिओन द' बोवा हर स्तर पर उनका साथ देतीं। भौतिक चिंताओं से दूर सार्त्र ने संसार के असंतोष, कुंठा और विद्रोह की अस्तित्ववादी व्याख्याएं कीं, उपन्यास और नाटक लिखे, मई 1968 के मशहूर छात्र-विद्रोह में सक्रिय रहे और नोबेल जैसे सबसे बड़े पुरस्कार को 'आलू का बोरा' कह कर ठुकरा दिया। मई-विद्रोह में शिरकत करने के लिए सार्त्र की गिरफ़्तारी की मांग हुई तो तत्कालीन राष्ट्रपति द'

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गाल ने कहा था : भला कोई वॉल्तेयर को कैसे गिरफ़्तार कर सकता है!

सार्त्र की स्थिति के बरक्स हिंदी में सहसा गजानन माधव मुक्तिबोध की याद आती है। उनकी रचनाओं में वर्तमान जीवन और व्यवस्था से एक सतत विद्रोह है। पर मुक्तिबोध के पास डूब जाने के लिए किताबों का अंबार नहीं था, न दैनिक चिंताओं से बेफ़िक्र रहने की सुविधा थी। पीड़ित दिखने वाले चेहरे, कठोर संघर्ष की करुणा से भरी आंखों और मुंह में सदा लगी रहने वाली बीड़ी के साथ वे जीवन-यापन की विकट पहेली को हल करते हुए 'एक साहित्यिक की डायरी', 'अंधेरे में' और 'पक्षी और दीमक' जैसी कृतियां लिखते रहे। उनकी मृत्यु के बाद ही उन्हे वह दर्ज़ा मिला जो बहुत पहले मिलना चाहिए था। बाद में उनकी जयकार तक होने लगी और उन्हें साहित्यिक मंगलाचरण के बदलने की कोशिशें हुईं। सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष तरीक़े से हमारे चारों ओर फैली सांस्कृतिक सत्ता ने उन्हें मृत्यु के बाद स्वीकृति दी, पर मुक्तिबोध की कविता इतने अस्वीकार, प्रतिष्ठान के प्रति इतने तिरस्कार से भरी है कि मृत्यु के बाद भी एक ज़बर्दस्त सांस्कृतिक ढांचा उन्हें जज़्ब नहीं कर पाया। मुक्तिबोध की परंपरा में चलने वाले कवियों की हिंदी में कमी नहीं है, जिन्हें न व्यवस्था की मंज़ूरी की इच्छा है और न अपने लेखन में कोई समझौता करने की ज़रूरत। सांस्कृतिक प्रतिष्ठान किसी राजनीतिक व्यवस्था का ही विस्तार होता है। आख़िर इस देश के शासक वर्गों के सांस्कृतिक सलाहकार ही संस्कृति के नियामक हैं और यह तय है कि राजसत्ता अपने लिए साहित्य क़तई ज़रूरी नहीं मानती। वह शब्द की सत्ता से भय खाती है। शायद इसलिए भी कि शब्द व्यवस्था द्वारा ईजाद किये गये बाहरी उपकरणों पर आश्रित नहीं रहता और न नृत्य वग़ैरह की तरह मनोरंजनकारी होता है।

राजसत्ता के सांस्कृतिक तंत्र में आज जिस खोखलेपन और अपसंस्कृति के दर्शन होते हैं और संगीत-नृत्य की भरमार के बावजूद होते हैं, उसका एक कारण यह भी है। देश के कर्णधारों को, दिल्ली या उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान जैसे राजसत्ता के सूत्रधार प्रदेशों में ज़रा देखिए : वहां किसी मंत्री को साहित्य से शायद ही कोई सरोकार हो। स्टेनगनों की सुरक्षा में चलने वाले उत्तर प्रदेश के मंत्रियों-विधायकों में से शायद ही किसी ने जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' पढ़ी होगी, शायद ही कोई प्रेमचंद के जन्मस्थान लमही की अहमियत से परिचित होगा, शायद ही किसी को निराला का कोई गीत याद हो। और तो और, किसी ने शायद ही लखनऊ के अमृतलाल नागर की रचनाएं पढ़ी होंगी। राजस्थान में कहते हैं कि एक मुख्यमंत्री ने जनकवि गणेशीलाल व्यास 'उस्ताद' को बुढ़ापे में कोई ऊंचा ओहदा दे दिया और उन्होंने एक समारोह में अपनी कविता 'इग दिश पड़ी न सुख की झाईं/ राज बदलग्यो म्हाने काईं' सुनायी तो मुख्यमंत्री ने कहा कि व्यास जी, यह कविता तो नहीं चलेगी। व्यास जी ने जवाब दिया : कविता तो चलेगी, हां, नौकरी नहीं चलेगी।

सच्चे रचनाकार की पटरी व्यवस्था से कभी नहीं बैठ पाती। वह पेट के लिए किसी दरबार में चला भी जाये तो मिसफ़िट रहता है। वह रहीम की तरह 'पापी पेट' को समझाता

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
रहता है कि अगर तू नहीं होता तो मुझे अपने स्वाभिमान को उतार कर जगह-जगह हाथ न फैलाना पड़ता। पर व्यवस्था ही क्यों, साहित्य हमारे समाज से भी लगभग बहिष्कृत है। कवि को समाज में अभी तक एक अजूबा प्राणी माना जाता है, जो कुछ नहीं करता, बस बाल बढ़ाये हुए सामाजिक संबंधों से कटा हुआ अपनी तरंग में रहता है। कवि भले ही अपनी रचनात्मक शक्ति समाज से ही ग्रहण करता है, पर समाज के लिए वह किसी दूसरी ही दुनिया का व्यक्ति है। एक फूहड़ उपभोक्तावाद की भ्रष्टता और अशिक्षा के अभिशाप में फंसे समाज में कवि की छवि अगर किसी सिनेमाई या टीवी हीरो जैसी हो तब उसे इस दुनिया का मान लिया जाता है। ऐसी छवि के कवि भी हमारे यहां हैं जो टीवी वग़ैरह के पर्दे पर आते रहते हैं। वे ऐसे कवि हैं जो लोगों को यथास्थिति के पक्ष में गुदगुदाते हैं, हंसाते हैं और उन्हें फूहड़ कर दी गयी रुचियों को पुख़्ता करने का आनंद देते हैं। ऐसे कवि हंसने, गाने, चिल्लाने, नाचने तक के तत्त्वों को अपनी कविता में शामिल किये हुए होते हैं। वे आधा कवि हैं, आधा विदूषक, आधे नाटककार, आधे छैले, और इसी तरह बहुत कुछ और...। उनकी तस्वीर या तो हीरो जैसी है या हीरो के साथ चिपके हंसोड़ जैसी। दोनों ही स्थितियों में वे समाज में स्वीकृत हैं। व्यवस्था के स्वीकार-अस्वीकार का वैचारिक संकट उनमें नहीं होता, क्योंकि व्यवस्था वैसी ही कविता चाहती है जैसी वे लिखते हैं। इन कवियों के संदर्भ में रोटी का सवाल ही अप्रासंगिक है।

पर एक सच्चा कवि शक्ति और सफलता की प्रचलित दुनिया से बाहर रहेगा। वह उसका हिस्सा नहीं हो सकता, जबकि समाज अब उन्हीं लोगों को पहचानता है जिन्होंने किसी भी उपाय से ताक़त और सफलता का वरण कर लिया हो। ऐसी स्थिति में कविता लिखने का काम दयनीय तो नहीं, विडंबनापूर्ण ज़रूर हो जाता है। एक कवि कविता लिखकर उसे दूसरे कवि की जेब में डाल आता है और समझता है कि वह उसने समाज को दे दी है। कमोबेश इसी विडंबना में वह अपनी रोटी खाता है और हर बार उस सवाल का जवाब देने के लिए अपने को तैयार करता है जो कभी शायद अज्ञेय या जैनेंद्र कुमार से किसी ने पूछा था : 'माना कि आप लेखक हैं, पर आप करते क्या हैं ?' तब यह सवाल एक मज़ाक़ की तरह था, अब एक त्रासदी की तरह है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बाहर की हवाओं से परे एक टोपी

लकीर पीटने का काम हिंदी में ख़ूब होता है। मैथिलीशरण गुप्त की जन्मशती के दौरान पिछले वर्ष डॉ. नामवर सिंह ने पत्र-पत्रिकाओं में 'भारत भारती' को अतीतजीवी और भविष्य-दृष्टि के अभाव का काव्य कहकर एक बहस छेड़ने की कोशिश की थी। उन्होंने गुप्तजी की पुनरुत्थानवादी इतिहास-दृष्टि पर भी कुछ सवाल उठाये थे। लगभग उसी समय समाजशास्त्री सुधीरचंद्र ने भी कुछ मिलते-जुलते बिंदुओं की ओर संकेत किया। उम्मीद थी कि साहित्य के विचारक इन मुद्दों के आसपास कोई विचार-विमर्श शुरू करेंगे ताकि 'भारत-भारती' के सामाजिक-साहित्यिक मूल्यों की प्रासंगिकता फिर से समझी जा सके। पर उस समय चुप्पी ही रही।

अब लक्ष्मीकांत वर्मा ने बहस छेड़ी है। नामवर सिंह 'भारत भारती' के बारे में तीन-चार मुद्दे उठाते रहे हैं। उनमें एक तो यह है कि स्वाधीनता और राष्ट्रीय आंदोलन को वाणी देने वाले और जातीय गौरव के जागरण के इस ग्रंथ के आप्त-वाक्य 'हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी' के 'हम' का दायरा इतना सिमटा हुआ क्यों है कि उसमें मुस्लिम संस्कृति, ताजमहल, और तानसेन को तो छोड़िए, दक्षिण के मदुरै-मीनाक्षी और त्यागराज तक का उल्लेख नहीं है और वह सिर्फ़ गंगा-यमुना के दोआबे के हिंदुत्व में ही समूची भारतीयता का रूपक गढ़ लेता है। इस सनातनधर्मी 'हम' से बौद्ध धर्म भी बहिष्कृत है, क्योंकि 'भगवान शंकर ने भगा दी बौद्ध भ्रांति भयावही।'

दूसरा मुद्दा 'भारत भारती' की अतीतोन्मुखता का है। अपने प्राचीन गौरव से मोहासक्त होने का और नतीजतन जीवन और भविष्य की उस अंतर्दृष्टि के अभाव का, जिसका होना श्रेष्ठ कृतियों का अनिवार्य गुण होता है। तीसरा ग़ौर करने लायक़ मुद्दा यह था कि मैथिलीशरण गुप्त इतिहास से कोई आलोचनात्मक संबंध नहीं बनाते। प्राचीन के प्रति आलोचना-दृष्टि न होने को नामवर सिंह ने 'भारत भारती' के विश्लेषण की कुंजी माना है।

यह 'आलोचनात्मक संबंध' एक बहुत ज़रूरी सवाल है। दरअसल जीवन, अतीत, वर्तमान और भविष्य के प्रति भी आलोचनात्मक दृष्टि से ही वह भाषा पैदा होती है जिसे हम दूसरी अनेक कोटियों में न रखकर साहित्य की कोटि में रखते हैं। यह परिभाषा कि 'साहित्य जीवन की आलोचना है' भले ही आधुनिक युग की है, कालजयी मानी जाने वाली प्राचीन कृतियों में भी इसे देखा जा सकता है। घटना, स्मृति, अतीत और इतिहास से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
किसी लेखक का रचनात्मक अंतराल ही इस आलोचनात्मक रिश्ते को बनाता है। ये रचनात्मक दूरियां किसी घटना से एक रचना की द्वंद्वात्मकता को निर्धारित करती हैं। इसीलिए कविता और विरुदावलियों में फ़र्क़ होता है। इसीलिए कालिदास का 'कुमारसंभव' महान काव्य की कोटि में आता है और 'शिवमहिम्नस्तोत्र' का कोई साहित्यिक मूल्य नहीं बनता। इसीलिए ब्रह्मानंद की भजनमाला साहित्य नहीं कही जाती।

वैसे भी 'भारत भारती' को न अच्छी कविता के लिए पढ़ा जाता है न काव्य-गुणों के लिए। पर यह सही है कि एक समय उसने हिंदीभाषी क्षेत्र के पढ़े-लिखे और बदलाव के इच्छुक लोगों को उद्वेलित किया। पर उसकी वजह कविता से अधिक 'हतभाग्य हिंदू जाति तेरा पूर्व दर्शन है कहां' कहकर अतीत के झलझलाते गौरव का अनुवाद था। और इस अनुवाद में जो दृष्टि थी वह ज़रा भी समालोचनात्मक या वैचारिक नहीं थी; वह थी अतीत के देवता को जगाने की, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने की या उस देवता से प्राण लेकर उन्हें तत्कालीन जीवन की जड़ता में प्रतिष्ठित करने की। जहां तक अतीत का सवाल है, वह चाहे जितना वैभवपूर्ण और उदात्त हो, वर्तमान में वह बरते जा चुके और अब कहानियां कहते हुए भग्नावशेष के रूप में ही जीवित रह पाता है और हम उस खंडहर से प्रेरणाएं तो ले सकते हैं, अपनी स्मृति में सुरक्षित रख सकते हैं, उसे मॉडल के तौर पर प्रासंगिक नहीं बना सकते। समय इसी तरह चलता है और इसके तमाम प्रमाण इतिहास हमें बताता रहता है। अतीत-देव को पुनर्जन्म देनेवाला काव्यात्मक प्रयास लोकप्रियता के स्तर पर भले ही अमर हो जाये, उनके साहित्यिक-सामाजिक मूल्य काफ़ी नश्वर होते हैं।

राष्ट्रीय चेतना की सच्ची और मूलभूत क़िस्म की अभिव्यक्ति के लिए भी गुप्त जी की बजाय माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान और बालकृष्ण शर्मा नवीन की ओर जाना बेहतर होगा। इनमें से कोई कवि राष्ट्रकवि नहीं बना, पर स्वाधीनता की चेतना की आत्मिक अभिव्यक्ति उनकी कविता को आज भी रोमांचक बनाये हुए है तो इसका कोई कारण है। स्वाधीनता के स्थूल शक्ल में प्राप्त हो जाने के बाद भी उनकी रचनाएं अभी तक हमारे मर्म को संवेदित कर जाती हैं। तब भी जब हमारा समाज पूरी तरह स्वाधीन हो चुकेगा, माखनलाल जी की कविताएं पढ़ी जाती रहेंगी। 'भगवान भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती' कहने वाले गुप्त जी के काव्य में हम यह गूंजने की सामर्थ्य नहीं पाते। 'भारत भारती' की भूमिका जैसे जल्दी ही—स्वाधीनता मिलते ही—पूरी हो गयी। एक समय सबकी ज़बान पर मौजूद कविता अगर एक दिन सबकी ज़बान से उतर जाये तो यह ज़बान का दोष नहीं, कविता की सीमा कही जायेगी।

गुप्त जी की इस सीमा के क्या कारण थे? पहला प्रत्यक्ष कारण तो यही था कि उन्होंने अपने समय की दुरवस्था के समाधान में अतीत के देवताओं को जगाया। एक सीमित काव्य-प्रयोजन पूरा हुआ तो वे देवता फिर से पत्थरों में बदल गये। राष्ट्रीय आंदोलन की कविता जिसे कहा जाता है गुप्त जी उसके भी एक हिस्से के ही कवि बन पाये। उनकी समस्त जागरणवादी कविता एक ख़ास राजनीति का, प्राचीन प्रतीकों के सहारे खड़ा हुआ

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अनुवाद लगती है।

पर कवि घटनाओं, इतिहास के प्रतीकों और रूपकों का अनुवादक नहीं होता। न उसकी कविता यथार्थ की नक़ल ही होती है। वह किसी तस्वीर की तस्वीर नहीं होती। इसके उदाहरण आधुनिकतावादी कविता में तो बहुत अधिक मिलेंगे, छायावाद और उससे पहले की कविता में भी हैं। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' की कथा के सांस्कृतिक सूत्रों का ख़ूब विश्लेषण हुआ है। वह कथा शतपथ ब्राह्मण से भले ही ली गयी हो, 'कामायनी' शतपथ का अनुवाद नहीं है। इसी तरह शकुंतला-दुष्यंत, पुरुरवा-उर्वशी पर जो महान नाटक और काव्य हमारे साहित्य में हैं वे भी शतपथ ब्राह्मण के प्रसंगों की नक़ल नहीं हैं। वे बड़ी रचनाएं इसलिए हैं कि उनमें अपनी कथा भूमि से आलोचनात्मक रिश्ता मौजूद है। इसीलिए वे पुनरुत्थानवादी भी नहीं हैं।

इस बात पर ग़ौर किया जाना चाहिए कि अपने जातीय गौरव का विस्तृत बखान करती 'भारत भारती' में भविष्य की समाज-रचना की कोई कवि-कल्पना क्यों नहीं है? जातीय अभियान को पुनर्प्राप्त कर पायी गयी स्वाधीनता में मनुष्य-संबंध कैसे होंगे? मुसलमानों के बारे में 'भारत भारती' के अनेक अंश पढ़ते हुए तकलीफ़ होती है— यह देखकर कि समाज में हिंदू-मुस्लिम कटुता के कारणों में न जाकर गुप्त जी ने एक बंद क़िस्म की हिंदू मानसिकता के भरोसे ही निष्कर्ष निकाले हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा ने अपने लेख में निराला की कविता 'शिवाजी का पत्र' और रामकृष्ण-विवेकानंद के प्रति उनकी कविता आदि के उदाहरण देकर पूछा है कि क्या निराला भी पुनरुत्थानवादी हैं? लेकिन विषय-वस्तु में कोई समानता होने से रचनाएं समान नहीं हो जातीं, उनमें व्यक्त जीवन-मूल्य समान नहीं हो जाते। निराला के काव्य 'तुलसीदास' में भी मुग़लों का जिक्र आया है, पर उनके और गुप्त जी के निष्कर्ष ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ लिये हुए हैं।

दरअसल लक्ष्मीकांत वर्मा एक सरलीकरण में पड़ गये हैं। उनके लिए एक विषय 'हिंदुत्व' का जिसने जो भी किया हो, सब बराबर है। इसी दृष्टि के चलते गुप्त जी के हिंदुत्व और विवेकानंद के हिंदुत्व में कोई भेद नहीं है। रामकृष्ण और राधाकृष्णन एक हैं। अरविंद और दयानंद भी एक ही ज़मीन पर खड़े हैं। इस 'हिंदुत्व' के विराट चंदोवे के नीचे सारे फ़र्क़, सारे मत-मतांतर, सारे द्वंद्व, सारे विचार आकर विसर्जित हो जाते हैं। बचा रहता है बस चंदोवा, जो ख़ुद भी एक स्तर पर आकर रूपाकारहीन हो जाता है। लक्ष्मीकांत ऐसी समरसता और समदर्शिता से काम लेते हैं कि उनमें अतीत और वर्तमान, इतिहास और साहित्य, दर्शन और धर्म, चिंतन और ग़पशप, काव्य और प्रवचन में सारे भेद मिट जाते हैं। सौभाग्य से सामाजिक शक्तियों की गति ऐसी नहीं है, अन्यथा हम आज भी प्राक्-इतिहास में रह रहे होते।

लक्ष्मीकांत ने गांधी जी को ठेठ हिंदू क़रार दिया है। हिंदू के रूप में गांधी का यह कायांतरण हाल ही की घटना है और गांधी दर्शन के किसी विचारक ने पहले इस तथ्य को रेखांकित नहीं किया। संभव है गांधी अपने को कहीं गहराई से हिंदू मानते हों—हालांकि अभी तक सच यह है कि उन्होंने सारे धर्मों के सार को अपने जीवन और आचरण में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उतारने की कोशिश की थी— पर वे आज के 'गर्व से कहो हम हिंदू हैं' वाले हिंदू हरगिज़ नहीं थे। ऐसा कहना गांधी को एक बार फिर से गोली मारना होगा। समाज और राज्य की अपनी परिकल्पना के बारे में उन्होंने कई बार यह बात कही थी कि स्वाधीन भारत कोई हिंदू भारत नहीं होगा। वह सभी धर्म के लोगों को समान जगह, हक़ और इज़्ज़त देने वाला समाज होगा।

दरअसल गांधी की याद 'हिंदू' संदर्भ में नहीं परंपरा से रिश्ते के संदर्भ में की जानी चाहिए। अतीत से गांधी का लगभग वही रिश्ता था जो किसी श्रेष्ठ रचनाकार का होता है। उनकी रचनात्मक राजनीति में एक प्रमुख कारक यह भी था। गांधी ने राम, रामराज्य जैसी अवधारणाएं रामकथा से ली होंगी, सूफ़ियों-संतों के राम से भी ली होंगी पर वे इन प्रतीकों के साथ उनके देवताओं को नहीं लाये। समाज में मान्य संकेतकों के देवताओं को कूच कराकर उन्होंने इनको अपने अर्थ दिये। ये अर्थ भारतीय समाज की जीवंतता, जटिलता और जर्जरता के उनके विशद् अध्ययन-अनुभव से उपजे हुए अर्थ थे। वे चाहते तो समाज और संस्कारों का अध्ययन करने की बजाय सीधे रामचरित मानस के शॉर्टकट से हिंदुत्व का सामाजिक-राजनीतिक मॉडल ढूंढ़ लाते, पर तब वे रचनात्मक राजनीति नहीं कर पाते। तब उनकी राजनीति कुछ वैसी होती, जो 'गर्व से कहो हम हिंदू हैं' या 'माता ने बुलाया है' जैसे नारों में प्रकट होती दिखती है। आख़िरकार इधर के समस्त हिंदू-चिंतन का स्थूल राजनीतिक निष्कर्ष वही है जो उपर्युक्त नारे हमें बताते हैं।

पुनरुत्थानवाद, प्रतिक्रियावाद, पतनशीलतावाद, सौंदर्यवाद, अस्तित्ववाद, स्वच्छंदतावाद, मार्क्सवाद, एब्सर्डवाद— आधुनिक चिंतन की ये सारी शब्दावलियां लक्ष्मीकांत वर्मा को एक जैसी निरर्थक जान पड़ती हैं और इन्हीं शब्दों के आधार पर नामवर सिंह समेत आज के सारे आलोचक बात करते हैं। पर जब ये खोखले और बेमानी हैं और सामने वाले के चिंतन के आधारों को ही आप ज़रा भी स्वीकृत करने को तैयार नहीं तो धर्म-प्रवचकों की तरह क़िस्से-कहानियां और चट से अपना संदेश कान में घोलने वाले प्रसंग ही बचे रहेंगे। और इन्हीं में से एक बंदर की टोपियों की कहानी लक्ष्मीकांत जी ने बता दी है। पर इसके साथ ही लगता है उन्होंने भी एक ऐसी सनातनी टोपी पहन रखी है जो बाहर से आने वाली हवाओं के लिए अभेद्य है।

मार्च 1988

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नक़्क़ारख़ाना है, पर तूती बोलेगी

दो महाशक्तियों के पाटों में पिस रही दुनिया में हथियारों का ज़ख़ीरा बढ़ाने और मिसाइलें लगाने की जो अंधी होड़ मची है उस पर पश्चिम जर्मनी के मशहूर उपन्यासकार ग्युंटर ग्रास ने जर्मन संसद को एक खुली बेबाक चिट्ठी लिखकर चेताया है कि हथियारों के पागलपन का जवाब हथियारों के पागलपन से न दिया जाये। 'टिन ड्रम' और 'कैट एंड माउस' जैसे विश्वविख्यात उपन्यासों के लेखक ग्युंटर ग्रास की राय में 'पश्चिम जर्मनी को नयी मिसाइल व्यवस्था की नहीं, बल्कि बेरोज़गारों के लिए नयी रोज़गार योजना की ज़रूरत है।... हथियार हमारी आख़िरी ज़रूरत ही हो सकते है।' पर्शिंग-2 और क्रूज़ मिसाइलों की स्थापना को क़तई बर्दाश्त न करने की बात कहते हुए उन्होंने संसद के सदस्यों से आग्रह किया है कि इस बचकाने और बेवकूफ़ी के प्रस्ताव को कूड़ेदान में फेंक दें। चिट्ठी लिखते हुए ग्युंटर ग्रास को यह भी एहसास है कि वैचारिक कट्टरता और हठधर्मिता के बोलबाले के बीच उनकी विवेक की इस अपील पर कान नहीं दिया जायेगा, लेकिन तब भी 'जो बात कहनी है, उसे कहा ही जाना चाहिए।'

ग्युंटर ग्रास का यह ख़त एक उदाहरण है पश्चिम के बुद्धिजीवियों के दुख और चिंता का, जो किसी भी वक़्त फट पड़ने वाले युद्ध के दुःस्वप्न में और एक ऐसे समाज में जी रहे हैं जहां हर रोज़ लगभग दो सौ करोड़ मार्क हथियारों पर ख़र्च करके विनाश के दिन को और क़रीब बुलाया जा रहा है। ग्युंटर ग्रास ने यह ख़त लिखकर एक सजग नागरिक और बेचैन लेखक, दोनों रूपों में अपनी एक बड़ी ज़िम्मेदारी पूरी की है।

'खुला समाज' कहे जाने वाले पश्चिमी देशों के बुद्धिजीवी जब-तब सत्ता और शासक वर्ग के कुकर्मों को लेकर तेज़-तर्रार विरोध व्यक्त करते आये हैं। इसकी एक परिपाटी वहां बनी है। दूसरे विश्व युद्ध में 'प्रतिरोध आंदोलन' के दौरान कवियों-चित्रकारों-लेखकों ने सक्रिय हिस्सा लिया था और कईं मोर्चे पर जाकर लड़े भी। ब्रिटेन के दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल ने वियतनाम युद्ध की जांच के लिए बुद्धिजीवियों की एक अदालत भी बनायी थी जिसने उस समय के अमेरिकी राष्ट्रपति जॉनसन को फांसी पर चढ़ाने का फ़ैसला देते हुए कहा था कि दुनिया में जहां कहीं युद्ध है उसके पीछे ह्वाइट हाउस है। फ्रांसीसी लेखक-विचारक ज़्यां पॉल सार्त्र जीवन भर व्यवस्था विरोधी रहे और समाज और उनके बीच कैसा रिश्ता था यह उस समय ज़ाहिर हुआ जब मई 1968 में फ्रांस के नौजवानों ने ऐतिहासिक संघर्ष छेड़ा और सार्त्र की रचनाओं के अनेक वाक्यों को अपनी लड़ाई का नारा बनाया।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जुलाई 1982 में कोलोन में क़रीब 48 देशों के लेखकों के शांति सम्मेलन में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित लेखक हाइनरिघ ब्योइल ने साफ़-साफ़ कहा था कि हथियारों की भूख के मुक़ाबले तीसरी दुनिया में पेट की भूख और दरिद्रता कहीं बड़ी समस्या है। 'हथियारों के उद्योग के लिए ज़रूरी है कि उसके पास किसी शत्रु की अवधारणा हो, जिसे अकसर वे किसी मरी हुई अवधारणा को फिर से जिलाकर या खोदकर निकाल लेते हैं।' आणविक हथियारों का खुला विरोध करते हुए उन्होने एक ऐसे यूटोपिया की कल्पना की 'जहां स्वाभिमान और सम्मान की क़ीमत एक बूंद भर ख़ून से भी न चुकानी पड़े।' दरअसल पश्चिम के शांति आंदोलनों में बुद्धिजीवियों की शिरकत जितनी तेज़ हो रही है, उससे लगता है कि अगर युद्ध हुआ तो शायद उसके ख़िलाफ़ कमर कसने वालों की अगली क़तार बुद्धिजीवियों की ही होगी।

तुलना भले ही अटपटी चीज़ हो, पर थोड़ी देर के लिए इस जागरूकता का कोई जोड़ अपने देश में ढूंढ़ें तो मायूसी ही हाथ लगेगी। समाज और राजनीति की समस्याओं पर बोलने, सत्ताधारियों से सवाल करने वाले बुद्धिजीवियों को गिनने बैठें तो उनकी संख्या शायद उंगलियों पर गिनने लायक़ भी न हो। पंजाब जले, असम पिसे, पागलपन से भरी हिंसा हमारी ज़िंदगी का हिस्सा बन जाये, लोकशाही के लबादे में राजशाही चलती रहे, निर्दोष लोग मारे जाते रहें तो भी हम बुद्धिजीवियों की दुनिया में कोई हलचल नहीं होती, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। असम के नेल्ली में बच्चों समेत कई हज़ार ग़रीब लोग मार डाले गये, किसी बुद्धिजीवी ने सिरहन भी महसूस नहीं की। असम के संकट पर उपन्यासकार वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य के अलावा शायद ही किसी लेखक की आवाज़ सुनायी दी। कुछ दिन हुए चंद सिख बुद्धिजीवियों ने पंजाब के मसले पर अकालियों से शांति और विवेक की अपील की थी लेकिन देश को ठीक-ठाक चलाने के ज़िम्मेदार शासकों को इस सिलसिले में कुछ नहीं कहा गया। उन्होंने यह भी नहीं पूछा कि अगर प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के बातचीत करने से पंजाब में जारी भीषण रक्तपात कम या ख़त्म हो जा सकता है तो वे तथाकथित प्रतिष्ठा की केंचुल उतार कर उनसे एक बार बात क्यों नहीं कर लेतीं।

पड़ोसी देशों से हमारे रिश्तों में जो एक सोची-समझी-सी लगने वाली कड़वाहट हमेशा बनी रहती है उस पर भी हमारे दिमाग़दार तबक़े की ख़ामोशी विचित्र लगती है। कुछ दिन पहले राजीव गांधी ने खुला एलान किया कि पाकिस्तान से इसी साल के भीतर लड़ाई होगी। पाकिस्तानी ईंट का जवाब पत्थर से देने की तमन्ना भी जब-तब सरकारी नेताओं के मुंह से सुनाई देती है और आये दिन भाषणों में ख़तरों और शत्रुओं की मौजूदगी के भूत खड़े किये जाते हैं। यह मानी हुई बात है कि तानाशाह हों या लोकतांत्रिक लबादे वाले लोग—भीतरी संकटों से कन्नी काटने या जनता की आंखों में धूल झोंकने के लिए नित नये शत्रुओं की खोज में रहते हैं। उनके बचे रहने के लिए हर वक़्त एक शत्रु ज़रूरी है— वह भी कमज़ोर नहीं, ताक़तवर जिससे लड़ना लंबा और मुश्किल काम हो। इस शत्रु की डरावनी तस्वीर धुंधलाने लगे तो उसे झाड़पोंछ कर चमकाया जाता है ताकि दुश्मन का

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

चेहरा वैसा ही दिखता रहे जैसा हमारी कल्पना को भाता है।

और आज तो 'शत्रुओं' की कोई कमी नहीं है। देश के बाहर भी और भीतर भी। विपक्षी नेता, विरोधी सरकारें, असम, पंजाब, कश्मीर, पाकिस्तान, श्रीलंका और सरहद से लगे दूसरे मुल्क। ये 'शत्रु' क्यों और किससे पूछ कर खड़े किये गये और क्यों हम अपने घर और पड़ोस के मुल्कों की जनता के साथ शांति और दोस्ती नहीं बनाये रख सकते, यह सवाल कोई नहीं पूछता। भारत-पाकिस्तान के बीच युद्ध क्यों होना चाहिए और अकाली आंदोलन के नाम पर लोगों का ख़ून बहाने की छूट क्यों दी जानी चाहिए— इन सवालों पर किसी बुद्धिजीवी ने अपना क्षोभ ज़ाहिर नहीं किया। यह भी पूछा गया कि जो सरकार चालू वित्त वर्ष में शिक्षा की मद पर 204 करोड़ रुपये बमुश्किल ख़र्च करने जा रही है, वह फ़ौजफाटे और युद्ध के सामान पर 6800 करोड़ रुपये का ख़र्च क्यों तजवीज़ कर रही है?

लेखकों की दुनिया में ऐसी जड़ता शायद पहले कभी नहीं थी। आज़ादी की लड़ाई के दौर में एक पतली-सी रेखा ही साहित्यकार और पत्रकार को अलग करती थी और दोनों के सपने भी समान थे: आज़ाद होने के और नया समाज बनाने के। इसीलिए उस समय के लेखकों-कवियों- बुद्धिजीवियों ने भी उस चेतना को पनपाने का काम किया जिसे स्वाधीनता की या राष्ट्रीय चेतना का नाम दिया जाता है। तब सत्ता और साहित्यकार के रिश्तों के सवाल पर ऐसी छूंछी बहसें भी बेकार मानी जाती थीं, जैसी ख़ास तौर से हिंदी में पिछले दिनों चलती रहीं। भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर प्रेमचंद और माखनलाल चतुर्वेदी तक लेखकों के सामने साफ़ था कि उनका लेखन किसको संबोधित है और किसके विरोध में है।

आज अभिव्यक्ति का दायरा भी बढ़ा है और तादाद भी। बुद्धिजीवी और लेखक होना सम्मानजनक बात है। लेखकों के कई संगठन-संस्थाएं हैं। उनकी रचनाओं के लिए सरकारी और ग़ैर-सरकारी पुरस्कारों की भरमार है। इस सबके बावजूद बुद्धिजीवियों की दुनिया लगातार सिमट रही है। उनकी रचनाएं कम से कम सत्ताधारियों के लिए कोई ख़तरा नहीं हैं। इसलिए कि लेखक 'अभिव्यक्ति के ख़तरे' नहीं उठाना चाहते और समाज पर आये संकटों से ज़्यादा उनकी दिलचस्पी अपने निजी संकटों में है। एक राज्य के एक ऊंचे सरकारी सांस्कृतिक अधिकारी अगर अक्सर यह कहते हैं कि विरोध करने वालों और निंदकों को 'वाजिब दामों' पर ख़रीदा जा सकता है तो यह चेतना को हिला देने वाली कड़वी सचाई से कम नहीं है। कहना चाहिए, सत्ता को ऐसी बातें कहने का दुस्साहस भी लेखकों ने ही दिया है। बुद्धिजीवियों के सम्मेलन भी आज रोटरी क्लबों की सभाओं जैसे हो गये हैं जहां सत्ताधारी नेताओं को भाषण करने या उपदेश देने की छूट है।

ऐसा नहीं है कि सत्ता और साहित्य, राजनीति और लेखक जैसे मुद्दों पर हिंदी में बहसें न हुई हों। काफ़ी हुईं। लेकिन वे बहसें राजनीतिक संगठनों के ढांचे से बाहर नहीं निकल पायीं और बुद्धिजीवियों के बड़े तबक़े को अपने साथ नहीं ला सकीं। नतीजतन हिंदी में आज भी ज़्यादातर साहित्य का अर्थ है 'शुद्ध साहित्य', जो अपने समय और

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

परिस्थितियों के बारे में कुछ नहीं बोलता। वास्तविकता यह है कि हिंदी साहित्य ने समाज में लोगों के बीच अपनी कोई सार्थक भूमिका बनाने की बहुत ही कम कोशिश की है। इसीलिए सत्ता और साहित्यकार के रिश्तों में हमारे यहां एक विचित्र अवसरवादिता का बोलबाला है। कवि गजानन माधव मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में लिखा था कि हिंदी लेखक का आयुष्य-क्रम यह है कि यह गांव या क़स्बे से अपनी साहित्यिक यात्रा शुरू करता है, राजधानी पहुंचता है, ऊंचे और रुतबे वाले लोगों से संपर्क बढ़ाता, सुविधाएं जुटाता है और दो-चार विदेश यात्राओं के बाद अपने जीवन को सार्थक मान लेता है। मुक्तिबोध की यह बात आज भी सच है।

लेकिन यह भी सच होना चाहिए कि सत्ता के नक़्क़ारख़ाने में जो अपने विवेक की तूती बजाने में आस्था रखते हैं— भले ही वह अनसुनी होती रहे— लेखक और नागरिक के तौर पर वही ज़िंदा रहते हैं।

मार्च 1989

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अपने पैरों पर गिरते समाज की हिंसा

कुछ बरस पहले पीटर फ़ोंडा ने अमेरिकी ज़िंदगी पर एक फ़िल्म बनायी थी : 'द इज़ी राइडर'। दो नौजवान कुछ आवारगी में और कुछ अमेरिका को जानने-समझने की इच्छा से मोटरसाइकिलों पर सवार होकर निकलते हैं। दोनों के पास अमेरिकी झंडा है। हिप्पियों, समलैंगिकों, आवारा लोगों की बस्तियों और मनोरम दृश्यों से गुज़रते हुए वे शिकागो पहुंचने को होते हैं। रास्ते में एक ट्रक आ रहा है जिसमें बैठा एक आदमी उन्हें लगातार देख रहा है। अचानक वह अपनी बंदूक़ निकालता है और निशाना साधकर दोनों की हत्या कर देता है। फ़िल्म ख़त्म हो जाती है। ट्रक में बैठे आदमी का उन नौजवानों से सिर्फ़ इतना रिश्ता है कि उसने उनको मार डाला है।

इस हत्या की वजह क्या थी, फ़िल्म में यह नहीं बताया गया। लेकिन यहीं अमेरिकी समाज की हालात पर एक गंभीर टिप्पणी थी। दो अनजान लोगों की जान लेने का जो 'सुख' हत्यारे को मिला, उसमें जैसे अमेरिका का समूचा अक्स था। अमेरिकी व्यवस्था में विकृतियां उस हद तक पहुंच गयी हैं जहां हिंसा भी हर्ष देने लगती है और सैकड़ों हत्याएं महज़ इसलिए होती हैं कि कुछ लोगों को हत्या करना अच्छा लगता है। अमेरिका के अनेक शहरों में अब संपन्न अमेरिकी नहीं रहते। वे उपनगरों में बसते हैं और शहर के मुख्य हिस्से उन्होंने पेशेवर अपराधियों, समाज से बाहर किये गये लोगों और हिंसा के रोज़गार पर चलने वालों के लिए छोड़ दिये हैं।

विवेकहीन हिंसा का एक दौर अपने देश में भी चल रहा है। यह जितना लंबा खिंचा है उससे लगता है हमारा समाज भी अमेरिका के रास्ते पर है। पिछले दो साल के अख़बारों के पहले पेज याद करें तो लगेगा कि जैसे वे लगातार क्रूर और हिंसक होती समाज-व्यवस्था के दस्तावेज़ हों। पंजाब, असम, मुरादाबाद, भिवंडी के हत्याकांड, दहेज के सवाल पर दुल्हनों की हत्याएं, पुलिस के गोलीकांड मोटे उदाहरण हैं। हिंसा किस तरह जगह बना रही है, इसके दूसरे उदाहरण हमें अपने ही क़स्बे, गली, मुहल्ले में मिल जायेंगे, जहां आदमी को अपने रोज़मर्रा के व्यवहार में कई क़िस्म की हिंसा का दलदल पार करना पड़ता है।

कुछ ही वक़्त पहले तक हमारा समाज ऐसी घटनाओं से विचलित होता था, उन पर तीखी प्रतिक्रिया करता था। दो-चार लोग मारे जायें, बेहतरीन नौजवानों को नक्सलवादी कहकर भून दिया जाये, रोटी, रोज़गार या न्याय मांगते लोगों पर पुलिस टूट पड़े, हरिजनों की बस्तियां जला दी जायें, समाज इन पर रोष प्रकट करता था। या इन घटनाओं के कारणों

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

को जानने की इच्छा उसके भीतर पैदा होती थी। वह इन्हें चुपचाप पचा नहीं लेता था। इस तरह यह उम्मीद बंधती थी कि यहां लोकतांत्रिक जागरूकता की छुट्टी नहीं हो गयी है, हम मरी हुई क़ौम नहीं हैं और यह कि ढांचे में कोई गड़बड़ी आने पर प्रतिरोध की एक आपसे आप व्यवस्था हमारे ढांचे में बरक़रार है।

आज यह व्यवस्था तेज़ी से नष्ट होती लगती है। धार्मिक धूर्त्तता और राजनीतिक मूर्खता से उपजी हिंसा हो या राष्ट्रीयताओं के बीच अचानक से लगनेवाले, लेकिन सोचे-समझे तनावों या विस्फोटों का सिलसिला— सारा कुछ जैसे हमारे आसपास की हवा को बिना छुये गुज़र जाता है। इन पर समाज और उसके नुमाइंदे कहे जाने वाले राजनीतिक दलों की प्रतिक्रिया गूंगी हो चली है। अकसर जब ये घटनाएं चेतना के बहुत पास आ जाती हैं तो असुरक्षा और दहशत छाने लगती है। यह बदहवासी पिछले तीन-चार वर्षों में बहुत बढ़ी है। वरना क्या वजह है कि पंजाब में जब उग्रवादियों ने निर्दोष जानें लेने के साथ-साथ लोगों की आत्मा को जोड़े रखने वाले ऐतिहासिक-सांस्कृतिक धागों को काटना शुरू कर दिया तब भी सरकार समेत सभी पार्टियां हक्की-बक्की किसी चमत्कार का इंतज़ार करती रहीं। ताक़तवर लोगों के संदेश समाज तक पहुंचाने वाले माध्यम भी हिंसा को समाज की धमनियों में ज़ज़्ब कराने का काम करते रहे। जहां सिर्फ़ अत्याचार हो और उसका विरोध न हो, वहां अत्याचार धीरे-धीरे हज़म होने लगता है। अचरज नहीं कि दहेज के सवाल पर स्त्रियों को जलाया जाना, बलात्कार या हरिजनों को मारा जाना अब हमें बुरी ख़बर की तरह विचलित नहीं करता। नेल्ली, मुरादाबाद और भिवंडी पर कोई सिहरन नहीं होती और पंजाब में उग्रवादियों की हिंसा हो या सेना की जवाबी हिंसा— हम 'यह तो होना ही है' सोचकर बरी हो लेते हैं।

लोकतंत्र की दुहाई जहां बार-बार दी जाये और हिंसा करने की इच्छा होते ही बुद्ध से लेकर गांधी तक थोड़ा आड़े आने लगें; वहां समाज की नसों में हिंसा का प्रवेश धीमे-धीमे कराया जाता है। मात्रा भी धीरे-धीरे बढ़ायी जाती है ताकि उसे ख़ून में घुलने-मिलने में समय लगे और एक ऐसी भी स्थिति आये जब समाज आदी होकर उसकी ज़रूरत एक ख़ूराक की तरह महसूस करने लगे। विकृति, उत्पीड़न और ताक़त के आतंक को समाज में ज़ज़्ब कराने का यह तथाकथित 'लोकतांत्रिक' तरीक़ा उन्नत देशों में हम देख सकते हैं, जहां कोई प्रत्यक्ष तानाशाही नहीं झलकती, रौंदते हुए फ़ौजी बूट नहीं दिखाई देते और बहुत बारीक़ी और शांति के साथ वे तमाम बुराइयां समाज में रच-बस जाती हैं जिन्हें शासक वर्ग चाहता है। हिंसा को दैनिक जीवन का हिस्सा बना देने और उसे धीरे-धीरे सामाजिक व्यवहार में स्वीकृत कराने की यह प्रक्रिया हमारे देश में भी शुरू है।

कुछ लोगों का ख़याल है कि इसकी शुरुआत सत्ता-राजनीति में संजय गांधी के उदय से हुई। लेकिन यह एक सरलीकरण है। संजय गांधी समाज में पनपी उन प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि थे जो सिर्फ़ ताक़त के गणित से चलती थीं और जिन्होंने लोकतांत्रिक मर्यादाओं की सड़न से अपनी ख़ूराक पायी थी। यह आकस्मिक नहीं था कि संजय गांधी के साथ ऐसे बहुत से लोग राजनीति में चमके जो अपराधों के रसातल से कोई न कोई

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संबंध रखते थे। समाज में उनका ताक़तवर होना राजनीति में ताक़तवर होने के लिए था। और आज हम देखते हैं कि सर्वोच्च संस्थाओं में पहुंची यह जमात समाज में कुछ दूसरे ही मूल्यों को स्थापित कर चुकी है। उसने धीरे-धीरे आतंक और हिंसा को एक रोज़गार की शक्ल दे दी है और अपने पीछे ऐसी पीढ़ी भी पैदा कर दी है जो हिंसा के रोज़गार पर ही गुज़र-बसर करती है। यही अभी सीमित भले ही लगे, राजनीति का रुख़ बताता है कि आने वाले दिनों में हवा इसी रोज़गार की बहेगी। आख़िर जरनैलसिंह भिंडरावाले के साथ के उग्रवादी नौजवान क्या थे? भिंडरावाले समेत हिंसा के रोज़गार पर पलने वाली इस पीढ़ी के लिए धर्म एक झीने पर्दे से ज़्यादा कुछ नहीं था। यह और बात है कि फ़ौजी कार्रवाई ने भिंडरावाले को शहीद बना दिया और टेलीविज़न पर पंजाब की तस्वीरें दिखाकर सरकार अपने पाप-बोध को धोने की कोशिश कर रही है। पंजाब की घटनाओं और फ़ौजी कार्रवाई के दूरगामी नतीजों की आशंकाएं जो हों, पर यह तय है कि हमारे ढांचे के और भी हिंसक होने का राजमार्ग खुल गया है।

हिंसा ने दूसरे रास्तों में भी प्रवेश किया है। फ़िल्मों को तो ख़ासा कोसा जा चुका है, लेकिन टेलीविज़न पर भी यह अपना चेहरा दिखलाती है। अब टीवी पर 'कमीने', 'हरामज़ादे' जैसे शब्दों का सुनाई पड़ना आम हो चला है। पश्चिम की टीवी फ़िल्में हर चार मिनट बाद होने वाले धमाकों के बूते पर चलती हैं, सो उन्हें हम अपने टीवी पर देख सकते हैं। मानसिक ग्रंथियों, तिरस्कार वाले व्यवहारों और कुंठाओं को लेकर जो कार्यक्रम टीवी देता है (जैसे 'शो-टाइम') उनमें दिखाये जाने वाले फ़िल्मी दृश्य भी गांठें खोलने की बजाय एक विचित्र मानसिक उग्रता और हिंसा को बढ़ावा दे रहे हैं, क्योंकि उन्हें इसी तरीक़े से प्रस्तुत किया जाता है। अब फ़िल्मों के संगीत और प्रेमदृश्यों तक में हिंसा आ गयी है और टीवी के ज़रिये घरों तक पहुंचती है। सारे कार्यक्रमों का 60 फ़ीसदी ऐसा है जो या हिंसक मानसिकता को ख़ूराक देता है या दिमाग़ को तनाव से भरता है। हमारे सामाजिक रिश्तों और रोज़मर्रा के बर्तावों में जो हिंसक भावना पैठी है, वह भी इसका नमूना है।

और यह सब उस देश में जहां पुराने ग्रंथों में शब्द की हिंसा तक से परहेज़ किया गया हो! पश्चिमी देशों में जब अस्तित्व की लड़ाई हिंसा के मैदान में लड़ी जा रही थी, हमारे यहां व्यवहार ही नहीं, भाषा में भी हिंसा का प्रवेश निषेध करने की बात हो रही थी। पश्चिमी पुराकथाओं में ईश्वर और मनुष्य के बीच अकसर टकराव की स्थिति है। मनुष्य को अपनी ज़रूरी चीज़ों के लिए भी ईश्वर से लड़ाई लड़नी पड़ी या अभिशाप झेलने पड़े। हमारे यहां ईश्वर और आदमी के संबंध ख़ासे मधुर और शांत रहे। विपदा में पड़े आदमी को बचाने के लिए देवताओं के दौड़े-दौड़े आने की कहानियां प्राचीन ग्रंथों में भरी मिलती हैं।

पर यह बहुत पुरानी बात है। आज चारों तरफ़ निगाह दौड़ायें तो आश्चर्य होता है कि क्या हम उसी समाज के एक विकसित हिस्से हैं। हमारे यहां फैलती हिंसा कोई आदिम, मासूम समाज की हिंसा नहीं है। यह एक धीरे-धीरे अपने ही पैरों पर गिरते जाते समाज की हिंसा है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कविता का सिनेमा

ऋत्विक घटक की फ़िल्म 'कोमल गंधार' में एक दृश्य है : एक नाट्य मंडली शाम को दिखाये जाने वाले नाटक की तैयारी कर रही है। मंच पर सेट लगाया जा रहा है, ठोकपीट चल रही है और पार्श्वसंगीत की जगह कोई सुकांत भट्टाचार्य की एक कविता पढ़ रहा है। सेट लगाने में जुटे कारीगर इस कविता से बेख़बर काम कर रहे हैं। इस दृश्य का कविता से कोई सीधा संबंध नहीं है, वह कविता का 'चित्रण' या उसकी 'चाक्षुष व्याख्या' या अनुवाद नहीं है, लेकिन दर्शक इस प्रसंग को देखता है और कविता को सुनता है और दोनों के अर्थ ग्रहण करता है। दरअसल यह फ़िल्म-भाषा का एक अद्‌भुत उदाहरण है जिसमें दृश्य और शब्द एक दूसरे से सीधा संबंध न रखते हुए एक दूसरे को विस्तार देते चलते हैं। ऋत्विक घटक जानते थे कि कविता और सिनेमा बहुत गहराई से आपस में जुड़े हैं।

कविता मानवीय यथार्थ और नियति की अभिव्यक्ति का सबसे प्राचीन माध्यम है जिसके लिए कोई आधुनिक तकनीक या उपकरण ज़रूरी नहीं है। यहां तक कि जब काग़ज़ और क़लम ईजाद नहीं हुए थे तब भी कविता का अस्तित्व था और तब वह दिमाग़ में लिखी जाती थी और मौखिक या वाचिक परंपरा में विकसित होती थी। दूसरी तरफ़ सिनेमा आधुनिक माध्यम है जो मूवी कैमरे, रॉ फ़िल्म और संपादन और प्रोजेक्टर जैसे उपकरणों के बिना अभिव्यक्ति नहीं हो सकता। उपकरणों के इस विरोधाभास के बावजूद जिस कला विधा से कविता का घनिष्ठ संबंध हो सकता है वह सिनेमा ही है। शायद इसलिए कि कविता और सिनेमा दोनों का सरोकार 'दृश्यात्मकता' है। कविता 'दृश्य' से शुरू होती है और सिनेमा 'दृश्य' में समाप्त होता है। पेड़ का वर्णन करनेवाली एक अच्छी कविता पेड़ को इतना विश्वसनीय बनायेगी कि वह 'दिखाई' देने लगे, वह किसी अमूर्त्तन को भी 'मूर्त्त' करते हुए जो कुछ उसे कहना है कहेगी। काव्य-भाषा का यही आधार है। अच्छा सिनेमा भी यथार्थ या स्वप्न या स्मृति की विश्वसनीयता की मूल शर्त पर काम करता है और अनेक बार यह उसका मूल उद्देश्य भी बन जाता है। सिनेमा और कविता के रिश्ते का एक और आयाम शायद दोनों माध्यमों की सघनता में है। दोनों अपने-अपने तरीक़े से यथार्थ को उसके सबसे सघन और तात्त्विक स्तर पर पकड़ने की कोशिश करते हैं।

दुनिया के सभी अच्छे फ़िल्मकार जिन्होंने सिनेमा की भाषा में नया कुछ जोड़ा है, जाने-अनजाने इस रिश्ते से परिचित रहे हैं। हम एक उदाहरण रूसी फ़िल्मकार आंद्रेइ तारकोव्स्की का ले सकते हैं जिन्होंने अपनी तमाम फ़िल्मों में पार्श्वसंगीत की बजाय

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कविता का ही ज़्यादातर इस्तेमाल किया है। 'मिरर' में द्वितीय विश्वयुद्ध के कुछ स्टॉक दृश्यों का भी इस्तेमाल किया गया है। घुटनों तक कीचड़ में धंसे रूसी सैनिक नदी पार करते दिखते हैं और पीछे से तारकोव्स्की के कवि-पिता आर्सेनी तारकोव्स्की की कविता सुनाई देती है। इस प्रसंग में भी कविता और दृश्य का आपसी संबंध वैसा ही है जैसा 'कोमल गंधार' में था। दोनों सिनेमा के महान दृश्यों में से हैं।

यह सोचना कितना दुखद है कि हमारा हिंदी सिनेमा और उससे भी आधुनिक हमारा टेलीविज़न इस रिश्ते को ज़रा भी नहीं समझ पाया है (गोविंद निहालाणी की फ़िल्म 'पार्टी' में कविता पढ़ने के कुछ प्रसंग हैं, पर उसमें कोई नयी सूझ नहीं दिखती)। टीवी पर जितने कविता-पाठ होते हैं उनका पूरा स्वरूप आमंत्रित श्रोताओं के सामने होने वाले रेडियो कवि सम्मेलनों से ज्यों-का-त्यों लिया गया है जिसमें यह भी नहीं सोचा गया कि टीवी रेडियो की तरह 'श्रव्य' नहीं, 'दृश्य' माध्यम है और महज़ एक सरकारी मंत्रालय के अधीन होने से दोनों एक नहीं हो जाते। टीवी पर ज़्यादातर कवि सम्मेलन या कविता पाठ या तो फूहड़ हास-परिहास की तुकबंदियों के होते हैं या फिर उनमें ऐसी सतही कविताई होती है जिसमें अंत तक पता नहीं चलता कि कविजी कविता पढ़ रहे हैं या गा रहे हैं या रो रहे हैं। कुछ गंभीर कविता-पाठ भी कभी-कभी नमूने के तौर पर प्रस्तुत किये जाते हैं जिनमें लगे भौंडी सजधज के सेट और प्रस्तुत करने का रेडियोनुमा अंदाज़ यही बताता है कि दूरदर्शन और कविता के बीच गहरे विरोध का ही रिश्ता है।

इस प्रसंग में हम कुछ समय पहले दूरदर्शन से प्रसारित हुए कार्यक्रम 'अमृता' को याद कर सकते हैं, हालांकि उसे अलग से याद करने का कोई कारण नहीं है, उसे दुःस्वप्न की तरह भूल जाना कहीं बेहतर है। कार्यक्रम क्या, यह एक पूरा सीरियल था और वह भी कविता पर आधारित। यह सचमुच मूर्खता और दुस्साहस के मेल से पैदा हुआ सीरियल था। एक कड़ी महाकवि निराला की कविता 'बांधो न नांव इस ठांव बंधु' पर आधारित थी। एक गांव की गोरी थी जो सहेलियों के साथ घड़ा लिये पनघट को जाती थी और पनघट से लौटती थी। फिर एक गांव का युवक था जो गोरी पर मुग्ध था और उसे देखता रहता था। पीछे से निराला के गंभीर शब्दों और स्मृति के राग-विराग को सतही बंबइया क़िस्म की आवाज़ में पढ़ा जा रहा था। अंत में रही-सही क़सर तब पूरी हुई जब गांववासियों ने प्रेम करने के अपराध में मनचले युवक की जमकर धुनाई कर दी। अपनी कविता की ऐसी हत्या देखकर निराला होते तो क्या करते? जैसा कि बताया जाता है, निराला को जल्दी गुस्सा आ जाता था।

दुर्भाग्य यह है कि दूरदर्शन पर जब भी कविता संबंधी कोई कार्यक्रम आता है, वह 'अमृता' जैसी ही समझ के साथ आता है। कविता के शब्दों, रूपकों और बिंबों का भौंडा, बंबइया क़िस्म का 'अनुवाद' करने की कोशिश होती है और ऐसे दृश्य दिखाये जाते हैं जिन्हें बंबइया फ़िल्मों में दर्शक हज़ार बार देख चुके हैं। कविता में फूल हैं तो पर्दे पर भी फूल दिखाते हैं, प्रेमियों के मिलन को दो फूलों के झुककर आपस में मिलने के दृश्य से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अभिव्यक्त किया जाता है, आंसू हैं तो कोई सुमुखी आंसू बहाती नज़र आती है, प्रेम का वर्णन है तो किसी ऐतिहासिक खंडहर में फ़ैशनेबल युवक-युवती पिटे-पिटाये तरीक़े से मटकते हैं और अगर कविता क्रांतिकारी हुई तो टीवी का छोटा पर्दा आग आदि से घिरा दिखाई देता है।

जब तक कविता की ऐसी समझ है, तब तक कविता और दूरदर्शन के बीच छत्तीस का ही रिश्ता रहेगा। भले ही वह रोज़ कवि सम्मेलन या कविता का फ़िल्मांकन प्रसारित करता रहे।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हास्य का दरबार

एक हास्य कवि महोदय ने कविता में रंगीन टीवी की ही तरह बीवी के भी रंगीन बने रहने की गारंटी दिये जाने की मांग की। फिर मंच पर बैठे एक और 'हास्य-सम्राट' की बुजुर्गियत का ज़िक्र हुआ तो उन्होंने रोना रोया कि मेरी बग़ल में एक कवयित्री बैठी हैं और देखिए मुझे बुजुर्ग कहा जा रहा है। एक दूसरे हास्यप्रद महोदय, जो ख़ुद ज़रा हंस के नहीं देते, अपनी चीज़ों में हरियाणवी लहज़े की खिल्ली उड़ाते हुए उपस्थित श्रोताओं से हाहा-हूहू बटोरते रहे। उनका क़तई जड़ चेहरा, पत्थर को भी मात करती आंखें, भावहीन मुद्रा और हरियाणवी अंदाज़ के चुटकुलों के साथ निकलती श्रोताओं की हंसी— यह सब एक साथ देखा जाये तो दृश्य हास्य नहीं वीभत्स रस के क़रीब बैठता है।

इस हास्य कवि सम्मेलन की अभद्रता और भौंडेपन पर ख़ूब टीका-टिप्पणी हुई और उसे दूरदर्शन पर स्त्रियों का अपमान और चीरहरण तक कहा गया। लेकिन दूरदर्शन का यह कोई पहला कवि सम्मेलन नहीं था। जब होली आती है तो दूरदर्शन तथाकथित हास्य कविता पेश करता है, गणतंत्र या स्वाधीनता दिवस आने पर देशप्रेम में पगे गीतकार मंच पर होते हैं, नये साल की पूर्वसंध्या पर मौज़-मज़े के कार्यक्रमों के साथ एक कवि सम्मेलन भी रखा जाता है, राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रीय एकता की थीम पर भी कवि सम्मेलन होते हैं, जिनमें शब्दों से ज़्यादा गले का उपयोग करते हए ज़्यादातर गीतकार गाते हुए लगभग रोते और रोते हुए लगभग गाते दिखते हैं। सरकारी त्यौहारों या सामाजिक पर्वों पर दूरदर्शन ने जितने भी कवि सम्मेलन पेश किये हैं उनमें देश को टूटने से बचाने या 'इंदिरा ज्योति' जलाये रखने या कमज़ोर पर हंसने की कोशिश करते कवि अपने शब्दों को जैसे नाकारा जानकर तरन्नुम, गले के दर्दीलेपन और विचित्र भंगिमाओं पर ही ज़्यादा भरोसा करते रहे हैं।

साल में कम से कम दो दर्ज़न बार दूरदर्शन हमें कविता सुनवाता रहा है। कविता को इतनी जगह मिलना कम नहीं है पर उसके ज़रिये किस क़िस्म की कविता हमारे दिल-दिमाग़, घर-परिवार और समाज में फैल रही है ? मोटे तौर पर उसका रवैया कविता के बारे में वही है जो असरानी या राजेंद्रनाथ या पेंटल जैसे कॉमेडियनों के हास्य के बारे में है। देशभक्ति के रुदन से भरी कविता भी उसकी निगाह में मनोरंजन की श्रेणी में आती है। इस तरह की कविता का अलग से कोई आकार नहीं, कोई व्यक्तित्व और कोई उपस्थिति नहीं

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
है। समाज में कविता की जगह बनाने या जितनी जगह है उसे विस्तृत करने में दूरदर्शन अपनी शक्तिशाली पहुंच का कोई उपयोग नहीं करना चाहता: वह इतना चाहता है कि कविता हंसी की हो या करुणा की— दर्शकों को दोनों में मज़ा आ जाये तो आयोजन सार्थक समझिए। यानी कविता उसके लिए सिर्फ़ एक ऐसी 'परफ़ारमेंस' है, अभिनय है जिसका कविता होना ज़रूरी नहीं है। इसीलिए तीसरे दर्ज़े के चुटकुले भी कविता हैं, हंसोड़ लोग हास्य कवि हैं और तुक पे तुक बिठाने वाले मार्मिक कवि। इस कविता का तर्क वही है जो बंबइया फ़िल्मों या उस जैसे दूसरे सामाजिक-सांस्कृतिक उत्पादनों का है: लोग तनाव से छूटना चाहते हैं, ज़िंदगी की भागदौड़ में कुछ देर हंसी-ख़ुशी चाहते हैं, चाहते हैं कि ज़रा हल्का हो लें। लोगों को हल्का (और खोखला) करने का काम कविता से लिया जाना एक गंभीर सामाजिक-सांस्कृतिक संकट का सूचक है।

दूरदर्शन के नीति नियामक शायद नहीं जानते होंगे कि हिंदी कविता (और दूसरी भारतीय भाषाओं की भी) की यह परंपरा नहीं रही है। कविता की वाचिक परंपरा बहुत पुरानी और बहुत समृद्ध है। संत या सूफ़ी कवियों को लें या उससे भी पहले संस्कृत कविता को देखें, तो उसके जीवंत और प्रासंगिक बने रहने का एक बड़ा कारण मौखिक ही रहा है। कबीर, तुलसी के दोहे-पद और चौपाई-सवैये हमारे यहां छपे हुए से कहीं अधिक बोले जाते शब्दों की तरह हैं। समाज जैसे एक सामूहिक मुख और कंठ से इन्हें याद करता बोलता आया है और जीवन की समस्याओं का विश्लेषण करने, तर्क करने और निष्कर्ष निकालने में भी इनसे मदद लेता रहा है। गांव-देहात में अब भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जिनकी ज़िंदगी में अक्षरों से परिचय न होने के बावजूद तुलसी और कबीर की पंक्तियां जीवित हैं। बल्कि वे उनके मानवीय व्यवहार और रोज़मर्रा जीवन में कहावतों की शक्ल ले चुकी हैं। अपने अनुभवों का सार वे इन कवियों के निष्कर्षों में खोजते हैं। इसी तरह नज़ीर अकबराबादी जैसे जन-कवियों की जाने कितनी ही पंक्तियां विभिन्न कामों में लगे लोगों की ज़िंदगी का हिस्सा हैं। उत्तर प्रदेश के किसी क़स्बे में ककड़ियां बेचनेवाला एक निरक्षर आदमी नज़ीर की शायरी को अपना विज्ञापन बनाकर बोलता नजर आ सकता है। संक्षेप में, जिस किसी कविता ने समाज में जगह बनायी, मनुष्य के आध्यात्मिक, वैचारिक और संवेदनात्मक उपयोग की वस्तु होकर ही बनायी और वह वाचिक स्तर पर विकसित होती रही।

वाचिक परंपरा ने किस तरह हमारी स्मृति को रचा है, यह एक और बहस है। पर इसी वाचिक इतिहास का एक आधुनिक रूप कवि सम्मेलन कहे जा सकते हैं। कवि सम्मेलन कविता को समाज में पहुंचाने, हमारे जीवन में कविता की ज़रूरत जगाने और विकसित करने का माध्यम रहे हैं। पच्चीस-तीस साल पहले तक उन्होंने यह काम पूरी गरिमा के साथ किया भी। कवि सम्मेलनों से जो अरुचि और लगभग घृणा आज के आधुनिक कवियों में पायी जाती है, तब वह नहीं थी। सभी जानते हैं कि निराला, पंत, प्रसाद और महादेवी वर्मा मंच से निस्संकोच कविताएं पढ़ते थे, और निराला तो अपने

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गीतों को हारमोनियम पर गाकर भी सुनाते थे। 'राम की शक्ति पूजा' या 'तुलसीदास' को उनके मुंह से सुनना एक अनुभव हुआ करता था। पुराने साहित्यकार आज भी उसे याद करके रोमांचित होते हैं। इसी तरह महादेवी वर्मा की कविता श्रोताओं से सीधा संवाद करती थी (बाद में एक घटना के बाद महादेवी ने मंच पर जाना बंद कर दिया, पर वह भी उनके स्वाभिमान का उदाहरण था)। ग़ौरतलब यह है कि लोगों से काव्यात्मक रिश्ता बनानेवाली यह कविता उन दिनों गूढ़, दुर्बोध और रहस्यात्मक मानी जानेवाली छायावादी कविता थी। 'राम की शक्ति पूजा' जैसी जटिल तत्सम पदावली से भरी कविता भी संप्रेषित होती थी, यह तथ्य आज आश्चर्यजनक लग सकता है। यह वाचिक परंपरा आगे भी जारी रही। दिनकर, बच्चन जैसे कवि तो कवि सम्मेलनों की मार्फ़त ही लोकप्रिय बने, पर गंभीर और आधुनिक कहानेवाले बहुत सारे कवियों को भी मंच से परहेज़ नहीं रहा। इस समय हिंदी के सबसे बड़े जीवित कवि नागार्जुन बुनियादी रूप से वाचिक धारा के ही रहे हैं। भवानीप्रसाद मिश्र के छपे हुए और बोले शब्द में कोई भेद नहीं करते थे। त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, हरिनारायण व्यास, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह जैसे कवि भी एक अर्से तक मंच पर जाते रहे।

मुशायरों की परंपरा भी कम समृद्ध नहीं रही, बल्कि हिंदी कवि सम्मेलनों से भी ज़्यादा रही है। उर्दू में शायद किसी भी शायर ने मंच की उपेक्षा नहीं की। ग़ालिब से लेकर फ़ैज़ और फ़िराक़ तक सभी बड़े शायर मुशायरों के कारण भी जाने गये। हज़ारों लोगों के सामने फ़िराक़ का कविता पढ़ना जिन्होंने देखा है, वे उनकी शायरी के असर को भी जानते होंगे। उनके शेरों पर आने वाली वाहवाही में कोई सस्ती मज़ेदारी न होकर एक लगाव और शब्दों के अर्थ संप्रेषित होने की स्वीकृति थी। उर्दू में अनेक ऐसे शायर हुए हैं जिन्होंने शायरी सुनाने को लगभग अपनी रोज़ी की तरह माना और उसी की तरह उसे सम्मान दिया।

हिंदी गीत भी इससे अलग नहीं थे। एक समय में बल्कि कवि सम्मेलनों का मैदान गीतकारों के ही हाथ था। तब हिंदी गीतों में भी कुछ जान थी और गीत और कविता में वैसा फ़र्क़ बहुत नहीं था जैसा अब हो गया है। गोपालसिंह नेपाली और शैलेंद्र जैसे बड़े गीतकार मंचों पर आम जन को संबोधित हुए। नेपाली के गीतों का जादू आज भी लोग नहीं भूले हैं। उनकी लोकप्रियता में एक ख़ास गंभीरता थी और तब तक मंच फूहड़ हंसी, सतही भावुकता और अभद्र मनोरंजन का मंच नहीं बना था और बोले हुए शब्द इस तरह फ़िज़ूल और अर्थहीन नहीं हुए थे जैसे आज हो गये हैं। तब मंच कविता का एक सार्वजनिक, नैतिक स्थल था जिसका काम समाज में खिलखिलाहट या रोना-धोना या घृणा पर आधारित ग़ुस्सा फैलाना नहीं, मानवीय संवेदना को ज़्यादा से ज़्यादा ऊंचे बिंदुओं तक ले जाना होता था।

और तब हमारा दूरदर्शन भी नहीं था। जब यह सार्वजनिक वाचिक परंपरा दरकना शुरू हुई, तुकबंदियों का जाल मंच पर आया, तो दूरदर्शन भी इस समाज में उपस्थित हुआ। फ़िलहाल कई वर्षों से हिंदी और उर्दू दोनों के मंच तुक्कड़ों, गलेबाज़ों, लतीफ़ों को हास्य

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कविता का लेबल लगाकर पेश करने वालों, भांड़-भड़ैंतों और देशप्रेम के नाम पर राजसत्ता, सरकार और नेताओं की वंदना करने लोगों के क़ब्ज़े में आ गया। कहते हैं ऐसी कविता करने वाले साल में एक बार झोले में कविता लेकर निकलते हैं और बोरे में नोट भर कर लाते हैं। कविता एक व्यापार होती तो बाक़ी धंधों की तरह इसमें भी कोई बुराई नहीं है। लेकिन हिंदी का दुर्भाग्य है कि कविता बिक्री की चीज़ बना दी गयी है और समाज में उसके वे सारे काम समाप्त हो रहे हैं जो वह ऐतिहासिक रूप से करती आयी है।

इस गिरावट के कारणों में जाना सामाजिक गिरावट की प्रक्रिया में जाना होगा, पर यह तय है कि इस नक़ली कविता ने सच्ची कविता को धीरे-धीरे मंच से निकाल दिया। नये कवि तो मंच से नहीं ही जुड़े, पिछली पीढ़ी भी, जो मंच पर जाती रही थी, उससे कट गयी। उसने कवि सम्मेलन को अपमान की जगह के रूप में देखा और छपे हुए शब्द तक या हद से हद छोटे, सीमित, निजी स्तर के कविता-पाठ तक सीमित हो गयी। यह बंटवारा 1962 में हिंदुस्तान और चीन की लड़ाई के दौरान ज़्यादा तेज़ होकर सामने आया। यह युद्ध ऐसे तुक्कड़ों के लिए उर्वर भूमि साबित हुआ जो 'शिवजी त्रिशूल लेकर कैलाश से निकल पड़े' जैसी चीज़ें लिखकर कवि बने। वीरता के सांचे जैसे प्रतीक उनके पास बने-बनाये थे— शिव, दुर्गा, काली, महाराणा प्रताप आदि— जिन्हें सिर्फ़ कुछ ग़ुस्से से भरे वाक्यों में ढालकर लय-छंद-तुक जोड़ना था। उन्हीं दिनों हास्य का एक ख़ास प्रकार भी सामने आया जिसमें शुद्ध निर्मल और मानवीय हास्य की जगह कुढ़न थी। बाद में यह कुढ़न दुर्बल पर हंसने और अत्याचार के शिकार को उपहास का पात्र बनाने की प्रवृत्ति में बदल गयी।

इसी भ्रष्ट परंपरा का विस्तार हैं आज के दूरदर्शनी कवि सम्मेलन और मुशायरे। उनका उद्देश्य एक क्रूरतापूर्ण मनोरंजन है। वह कविता भी समाज को संबोधित नहीं, बल्कि राजसत्ता को समर्पित है। इस कविता का उद्देश्य श्रोता या दर्शक को किसी मानवीय अनुभव से परिचित करना, उसके भीतर कोई बेचैनी या खोज पैदा करना नहीं, बल्कि उसे अधिकाधिक यथास्थिति के पक्ष में करने की कोशिश करना है। यह एक नयी तरह का दरबार है जिसमें दरबारी सब एक दूसरे को जानते हैं, पर यह नहीं जानते कि वे ठीक-ठीक किसके दरबारी हैं।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सुनते हुए हम सोचते हैं

कुमार गंधर्व का गायन सुनते-सुनते सहसा लगता है कि आप झूम नहीं रहे हैं, बल्कि लगातार कुछ सोच रहे हैं। उनका संगीत श्रोता को सुधबुध खोकर अपने साथ बहा नहीं ले जाता, मंत्रमुग्ध नहीं करता, और निश्चेष्ट नहीं रहने देता। उनका अतिप्रसिद्ध चयन 'त्रिवेणी' हो या लोकधुनों के कार्यक्रम या 'मालवती' जैसा स्वरचित मधुर राग— उस संगीत के सामने आपकी संवेदना में एक निरंतर घुमड़न होती है, जो शांति की नहीं बल्कि निष्क्रियता की विरोधी है। दरअसल उनका संगीत श्रोता से एक ख़ास सजगता की उम्मीद रखता है।

अक्सर कहा जाता है कि कुमार गंधर्व न होते तो शास्त्रीय गायन वह नहीं होता जो आज है, और यह कि उनके साथ राग संगीत के इतिहास में एकाएक नया मोड़ आया है। घरानों के सांचों में जकड़े गायकों और संगीत के जानकारों के बीच कुमार गंधर्व गोया एक विवादी स्वर की तरह रहे हैं। जिन बाल गंधर्व को कुमार इतनी श्रद्धा देते हैं कि उन पर उन्होंने 'मला उमजलेले बाल गंधर्व' नाम से एक पूरा कार्यक्रम प्रस्तुत किया, वे भी उनका गायन सुन कर कहते थे: 'भगवान, यह सब मेरी समझ से बाहर है।' उनके गायन को लेकर जितनी शंकाएं और बहसें उठीं हैं वह भी अपने आप में एक रिकॉर्ड है (पर उससे यह लाभ ज़रूर हुआ कि सोच-विचार से बहुत दूर का नाता रखने वाली संगीत की दुनिया में वैचारिकता की शुरुआत हुई)। कुमार गंधर्व को विद्रोही, मूर्तिभंजक, व्यक्तिवादी, शास्त्र का तिरस्कार करने वाला और घरानों की जाति-व्यवस्था से बाहर का व्यक्ति क़रार दिया जाता रहा, लेकिन वे इस सबसे बेख़बर लगातार नयी रचनाओं में लीन रहे। ग़ौरतलब यह है कि उनके कठोर आलोचक भी उनके संगीत को अनसुना नहीं कर पाये। कुमार गंधर्व के शब्दों में, 'संगीत चीज़ ही ऐसी है। वह फैलेगी। एक जगह बंद रहने वाली वह चीज़ नहीं है।'

आज कुमार गंधर्व ने साठ साल पूरे कर लिये हैं और विवाद अभी तक समाप्त नहीं हुए। आम तौर पर किसी कलाकार की षष्ठिपूर्ति तब मनती है जब वह अपनी कोई छोटी-बड़ी मूर्ति बना ले या कला के ऐसे पड़ाव पर पहुंच जाये कि उसे लांघना उसके बस में न हो या फिर अपनी सीमित पूर्णता पाकर वह सठिया जाये। साठ के पाठे में पहुंचे हुए गायकों के इर्दगिर्द शिष्यों का एक हुजूम होता है, उसके घराने के पेड़ पर कुछ और शाखाएं फूट चुकी होती हैं और उसके शिष्यगण 'जो-गुरूजी-ने-सिखाया-सो-गा-सुनाया' की परंपरा में महफ़िलें गुंजाने लगते हैं। कुमार गंधर्व के साठ साल इस सब को अस्वीकार

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

करते हैं। उनकी यह बात कि 'ज्ञान के सामने, आनंद के सामने आप बच्चे तो हैं— चाटने लगे या मुंह डालने लगे तो क्या हर्ज़ है, शर्म काहे की' शायद सबसे पहले उन्हीं के जीवन पर सार्थक बैठती है। शायद इसीलिए पुणे से लेकर दिल्ली तक फैली संगीत सभाओं, भक्ति काव्य से लेकर पंजाबी टप्पे और लोकधुनों तक इतना विविध संगीत उपजाने के बावजूद वे कोई विभूति बन कर स्थापित नहीं हुए। मूर्तिभंजक कुमार गंधर्व ने सबसे पहले अपनी ही मूर्ति को ढहाया है। कबीर के 'अपनी मढ़ी में आप मैं डोलूं/ खेलूं सहज स्वइच्छा' की तरह वे आज भी अकेले हैं। संगीत सभाओं में दायें-बायें बजते तानपुरे ही उनके सबसे प्रिय शिष्यों की तरह लगते हैं, जिनके बारे में ख़ुद उनकी धारणा है कि 'गाते समय मेरे साथ तानपुरे गाते हैं। मैं ऐसे कोण पर स्वरों को छोड़ देता हूं कि मुझे कुछ करना नहीं पड़ता, वे स्वत:-स्फूर्त्त तरीके से उसमें विलीन हो जाते हैं। यानी ऐसे मौक़े पर स्वरों को छोड़ना चाहिए कि उस ढंग से छोड़ते ही उसमें जो चीज़ थी, वह तानपुरे से निकलने लगती है।'

साठ साल की उम्र में भी निर्भय हो कर पिछली उपलब्धियां तोड़ने और आगे बढ़ जाने की इस ज़िद की वजह गायक और रचनाकार के फ़र्क़ में ढूंढ़ी जा सकती है। शास्त्रीय संगीत के अनेक गायक एक ख़ास परिपूर्णता तक पहुंचे हैं। बड़े गुलाम अली ख़ां, भीमसेन जोशी, गंगूबाई हंगल जैसे कई नाम इस सिलसिले में याद आ सकते हैं। आज किराना घराने की परिपूर्णता के अनूठे उदाहरण भीमसेन जोशी हैं। ऐसी परिपूर्णता कुमार गंधर्व में नहीं मिलती, तो इसीलिए कि वे किसी भावपूर्ण घराने के अप्रतिम गायक न होकर एक रचनाकार हैं, जो लगातार अपनी कला को जोड़ता, तोड़ता, बदलता, नये रूपों में ढालता चलता है। रचना करनेवाला कभी पूर्णता तक नहीं पहुंचता। पूर्णता पाते ही वह रचनाकार नहीं रहेगा, प्रस्तुतकर्ता बन जायेगा।

कुमार गंधर्व ने संगीत को गाया नहीं, उपजाया है। यह संगीत शास्त्र के सख़्त और घिसते जा रहे सांचों और व्याकरण से नहीं उपज सकता था। उसे नये, बीहड़, अनबने या कच्चे रास्तों से होकर ही खोजा जा सकता था जहां प्रचलित अर्थों में संगीत की बहुत कम संभावना होती है। अपने अनुभव से उन्होंने यह भी जाना कि किस तरह आज की प्रतिभाएं घरानों का महान बोझ ढोती-ढोती बौनी हो रही हैं। इसीलिए उनकी यात्रा का पहला क़दम था घराने के बोझ से छुटकारा पाना। घरानेदार संगीत से उनके विद्रोह को कुछ लोग— उनके दोस्त तक— उनकी गंभीर बीमारी से जोड़ते हुए एक आसान निष्कर्ष निकालते हैं कि उनके संगीत में आया क्रांतिकारी बदलाव एक शारीरिक अक्षमता पर विजय पाने की कोशिश का नतीजा था। लेकिन यह बात एक हद तक ही सच है। कुमार गंधर्व का विरोध उस पारंपरिक संगीत से था जो संगीत की धारा को बड़ा करने, विस्तार लेने और उसमें दूसरी तरह के संगीत के स्रोतों को मिलने से रोकता है। इसीलिए वे समाज और लोकजीवन की ओर गये। उन्होंने कबीर के ऐसे भजन चुने जिन पर बड़े-बड़े साहित्याचार्यों ने भी ग़ौर नहीं किया था। उन रचनाओं के विराट-बीहड़ दृश्यों को उन्होंने संगीत के बिंबों में बदला,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मीरा और सूर की तड़प और तन्मयता को अपनाया। तुलसी की रचनाओं को प्राय: संगीत-रहित माना जाता है, लेकिन कुमार गंधर्व की आवाज़ में तुलसी के पदों और चौपाइयों को भी एक नया सांगीतिक अर्थ मिला। इस रचनात्मकता का एक और उदाहरण 1963 में छपा उनकी बंदिशों का संग्रह 'अनूप राग विलास' है जिसमें कुमार गंधर्व की अपनी रची बंदिशें हैं और ग्यारह नये राग भी हैं।

यह बात निर्विवाद और बहुत बार कही जा चुकी है कि कबीर, मीरा, सूर को कुमार गंधर्व ने जिस तरह गाया है उससे अच्छा शायद ही कोई गा सकता होगा। ज़्यादातर द्रुत लय की इन रचनाओं में जैसे हर शब्द संगीत में बदल गया है। 'नैया मोरी नीकी नीकी चालन लागी', 'अवधूता युगन युगन हम योगी' या 'सुनता है गुरु ग्यानी' जैसे भजनों में कबीर कबीर की तरह हैं— फक्कड़, आत्मा और ब्रह्मांड की अथाह नीचाइयों-ऊंचाइयों में 'निरभय निरगुण' गाते हुए, ललकार से भरे और चुनौतियां देते हुए। मीरा के भजनों— 'म्हारा ओलगिया घर आया जी' या 'सांवरा म्हारी प्रीत निभाज्यो जी' में लगभग नृत्यरत और ग्रामीण निश्छलता का वातावरण है। इन पदों में शब्दों के साथ कोई लापरवाही नहीं बरती गयी, जैसा कि आम तौर पर गायक करते हैं। यहां कुमार गंधर्व के गाये पद पलुस्कर, ओंकारनाथ ठाकुर और विनायक राव पटवर्धन के उन भजनों से भी अलग हो जाते हैं जो आज सुरीली प्रार्थनाओं जैसे लगते हैं। लेकिन कबीर-मीरा-सूर के पदों की यह 'त्रिवेणी' भजनों का गुच्छा नहीं है, बल्कि वह किसी धुरंधर गायक के द्रुत लय के ख़यालों को भी लांघ जाती है।

गरिमावान, महिमामंडित, राजाओं की शरण में पले-पुसे संगीत को धरती पर उतारने का काम कुमार गंधर्व ने किया। जो संगीत सिर्फ़ आत्मा रह गया था उसे उन्होंने एक सचमुच का शरीर दिया। वे शास्त्र छोड़ कर जातीय संवेदना की ओर गये और व्याकरण छोड़कर ऐतिहासिक स्मृति की ओर। मालवी लोकधुनों और विभिन्न ऋतुओं को लेकर समूचे कार्यक्रम संयोजित करना भी उन जैसे रचनाकार के साहस का काम था। कुमार गंधर्व अगर शास्त्र की ओर जाते तो शायद शास्त्रीयता के संरक्षकों की भी शरण में जाते। लेकिन काली-सफ़ेद दौलत से बने संगीत के नये दरबार (जो शहरों में ख़ासा पनपा है) या बाज़ार में सर झुकाने की बजाय उन्होंने देहात की औरतों, भिखारिनों और नाथ संप्रदाय के वीतरागों के आगे सर झुकाया है, जिनके बीच हमारे वास्तविक संगीत का मूल निवास है। दिल्ली की किसी महमहाती संगीत सभा में उन्हें फ़रमाइश पर कुछ सुनाते शायद ही देखा गया हो।

कुमार गंधर्व ख़ुद को संगीत की सरहद पर खड़ा रचनाकार मानते हैं। लेकिन इस सरहद पर वे आज इतने समर्थ हैं कि किसी भी अनुभव को संगीत में बदल दें। वे शायद अकेले संगीतकार हैं जिन्होंने सफ़र करते हुए 'बिनजाना' या 'मोरवानी' जैसे रेलवे स्टेशनों और गांवों के नाम देखकर उन पर बंदिशें बना डालीं। संगीत को लेकर वे कितने उदार हैं, यह बताने के लिए पु.ल. देशपांडे का एक संस्मरण काफ़ी होगा : '...कुमार गंधर्व की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
महफ़िल थी। भूप चल रहा था। भूप चल रहा था, मानो अक्षरशः हाथी-घोड़ों और छत्र-चंवर उठाये सेवकों के वैभव सहित चल रहा हो। कोई पौन घंटे बाद उस भूप को शुद्ध मध्यम का एक बारीक़-सा कण छू गया। महफ़िल को अच्छा लगा, पर कुछ अचरज भी हुआ। कुमार ने वह अचरज जान लिया। तानपुरे वालों से आवाज़ धीमी करवायी। तबले पर वसंत आचरेकर की उंगलियां मुलायम हो गयीं।

'कुमार बोला : भाई क्या करूं? यह शुद्ध मध्यम बड़ी देर से मुझे ज़रा अंदर ले लीजिए, ले लीजिए की रिक्वेस्ट कर रहा है। भूप के दरबार में उसे प्रवेश नहीं है। पर बहुत गिड़गिड़ाने लगा, तो कहा : आने दो बेचारे को थोड़ी देर के लिए। कब तक बाहर रखें ? अपना दोस्त है। क्षण भर में उसके गाने के सप्तस्वर हम सुनने वालों के भी आत्मीय हो गये।'

यह उदारता समूचे संगीत के बारे में कुमार गंधर्व की सोच को भी उजागर करती है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

छोटी चीज़ों का बड़ा जीवन

एस पॉल की तस्वीरों में फ़ोटोकारी के चमत्कार नहीं हैं और न मौजूदा हालात पर कोई चुस्त बयान देने की तात्कालिकता को उभारने की कोशिश है। किसी घटना, वस्तु या एक उड़ते हुए क्षण को कैमरे में पकड़ने से लेकर डार्करूम में तस्वीर बनाने तक की प्रक्रिया में पॉल किसी तरह की 'प्रयोगशीलता' या 'तकनीकी युक्ति' का इस्तेमाल नहीं करते और न अपने विषयों की मूल सुंदरता को कम या ज़्यादा करते हैं। इसके बावजूद एस पॉल हिंदुस्तान के ऐसे फ़ोटोकार हैं जिनकी तुलना शायद किसी से नहीं की जा सकती। वे शायद इस समय के सबसे अधिक रचनात्मक फ़ोटोकार हैं।

दिल्ली के मैक्सम्युलर भवन में लगी उनकी सहत्तर तस्वीरों की प्रदर्शनी सबसे पहले यही बताती थी कि एस पॉल के लिए फ़ोटो खींचने का तरीक़ा नहीं, दृश्य को देखने का तरीक़ा महत्त्वपूर्ण है। इन तस्वीरों में लोगों के अलावा चिड़ियों, पशुओं, पेड़ों और बादलों की भी तस्वीरें हैं लेकिन पॉल के लिए वे जैसे मनुष्यों की ही तरह हैं और वे भी हमसे कुछ कहते हैं। इसीलिए प्रदर्शनी का नाम दिया गया है : पॉल के लोग। इस तरह की, इतना कुछ अभिव्यक्त करने वाली फ़ोटो प्रदर्शनियां शायद इस देश में बहुत नहीं लगी हैं।

एस पॉल की निगाह तात्कालिक चीज़ों की बजाय जीवन के बुनियादी क्षणों पर टिकती है। ये भारतीय समाज और रोज़मर्रा के दबे हुए, नामालूम-से क्षण हैं जो लगभग बेआवाज़ या फिर फुसफुसाकर इस तरह गुज़र जाते हैं कि हम उन्हें चारों ओर चीख़ते हुए दूसरे क्षणों के बीच देख और सुन नहीं पाते। एस पॉल की तमाम तस्वीरें उन क्षणों की आकृति और संवेदना दोनों को कैमरे के ज़रिये इस तरह उभारती हैं जैसे कोई कवि काग़ज़ पर संवेदनाओं को उतारता है। इन तस्वीरों में एक बूढ़े को सड़क पार कराता नौजवान है, मदारी के इशारे पर नाचता बंदर और उसकी नक़ल करता हुआ बच्चा है, एक मज़दूर औरत अपने बच्चे को टोकरी में रखकर ले जा रही है, एक बूढ़े के चेहरे की झुर्रियां उसकी मुश्किल ज़िंदगी की गवाह हैं पर उसकी आंखों में बच्चों जैसी चमक और निर्मलता है, रद्दी अख़बारों के अंबार को ढोकर ले जाता एक आदमी पीछे झांक रहा है, गांव की सड़क पर दो बच्चे और दो पिल्ले इस तरह जा रहे हैं कि मनुष्य और पशु का फ़र्क़ मिट गया है, एक फ़ोटो में एक बच्ची अपने में मगन नृत्य कर रही है और पृष्ठभूमि में बैठे बूढ़े इससे बेख़बर अपनी बातचीत में मशग़ूल हैं, तीन तस्वीरों में एक गृहिणी, एक वृद्ध और एक बच्ची अपने-अपने 'चिंतन' में डूबे हैं और उन्हें देखते हुए लगता है कि तीनों के अलग और

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अद्वितीय संसार हैं। दरअसल हर चीज़, हर व्यक्ति और हर चिड़िया अपने आप में एक विशिष्ट संसार है। शायद यही बताना एस पॉल की कला का उद्देश्य भी है।

बारिश एस पॉल का एक और प्रिय विषय है। वे ख़ुद भी कहते हैं: 'मानसून का मैंने गहरा अध्ययन किया है। उसके दृश्यों पर मैं क़रीब सौ तस्वीरों का एक पूरा एलबम तैयार कर सकता हूं।' क़रीब पंद्रह तस्वीरें मानसून और बारिश की सुंदरता के विविध रूप हैं जिनमें हम उसका गाढ़ापन भी महसूस कर सकते हैं और गीलापन भी। बारिश के पानी में लेटे नंगे बच्चे, एक चादर को लपेट कर बारिश का सामना करते तीन बच्चे और एक दीवार के सहारे बारिश में भीगी गीली प्रतिमाओं जैसी दिखती मज़दूरिनें आदि कुछ तस्वीरों में बारिश याद रखने लायक़ अनुभव में बदल गयी है।

मानसून के साथ ही एस पॉल धूप-छांह का भी अद्‌भुत खेल रचते हैं। 'आंधी आने से पहले' शीर्षक तस्वीर में घटाएं घिरी हैं, नीचे एक पुल है जिसकी रेलिंग पर धूप है लेकिन सड़क पर छाया है और एक आदमी स्कूटर पर बैठा जा रहा है। इस यथार्थवादी क़िस्म के दृश्य में एस पॉल धूपछांही रंगतों से एक स्वप्निल या अलौकिक गुण भर देते हैं। काले-सफ़ेद की इस लय को कई तस्वीरों में हम इस तरह महसूस कर सकते हैं कि उसे छू रहे हों।

दृश्यों और लोगों के ख़ास पैटर्न और सामंजस्य भी एस पॉल को आकर्षित करते हैं। पेड़ और उनसे एकाकार से होते लोग, मनुष्य की तरह दिखती कोई चिड़िया या चेहरे की तरह दिखता फूल कई तस्वीरों में यह कहने लगते हैं कि प्रकृति और मनुष्य दो अलग-अलग चीज़ें नहीं हैं। ईद की इबादत में झुके लोगों के समरूप पैटर्न या छब्बीस जनवरी की परेड की व्यापकता को भी पॉल का कैमरा अनोखे ढंग से पकड़ता है। ईद और गणतंत्र दिवस की इतनी अच्छी तस्वीरें तो शायद किसी दूसरे फ़ोटोकार ने नहीं खींची होंगी। 'इंडियन एक्सप्रेस' और 'जनसत्ता' में रहते हुए एस पॉल गणतंत्र दिवस और ईद की तस्वीरें हर साल नये ढंग से खींचते थे। पाठकों को हर साल इंतज़ार रहता था कि पॉल का कैमरा परेड, ईद, होली और दीवाली के संयोजनों को किस नयी निगाह से देखता है। पॉल इस मायने में भी शायद अकेले फ़ोटोकार हैं जिन्होंने रचनात्मक फ़ोटोकारी को पत्रकारिता का एक हिस्सा बनाया और अख़बारी खुरदुरेपन के बीच जाड़े की सुबह की धुंध, ओस की बूंदों, बारिश की पारदर्शिता जैसी चीज़ों को 'समाचार' का रूप दिया।

एस पॉल की तस्वीरें ऐसी तस्वीरें नहीं हैं जिन्हें प्रचलित अर्थ में खींची या 'शूट' की हुई कहा जाता है। वे अपने विषय को निर्धारित करके फ़ोटो नहीं खींचते। वे विषय और कैमरे के बीच अनायास एक रिश्ता बनाते हैं और उस रिश्ते की क्षणिकता को शाश्वत ढंग से दर्ज़ कर लेते हैं। अपनी तस्वीरों के लिए वे बड़ी या महत्त्वपूर्ण घटनाओं की खोज भी नहीं करते, बल्कि बहुत छोटी-छोटी स्थितियों की तलाश करते हैं। शायद यह कहना ज़्यादा सही होगा कि छोटी-छोटी स्थितियां उन्हें अपने आप दिख जाती हैं। मां का दूध पीती एक बच्ची की झांकती हुई एक मासूम आंख में या एक मैदान में किसी मूर्तिशिल्प की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तरह सोये एक आदमी की मुद्रा में जैसे वे एक पूरी दुनिया देख लेते हैं और इन्हीं मामूली दृश्यों से अपना एक रचनात्मक वक्तव्य तैयार करते हैं। उनका एक वक्तव्य तो यही है कि मनुष्य और प्रकृति के बीच कोई दूरी नहीं है। उनकी एक बहुत अच्छी तस्वीर का शीर्षक ही है : 'पेड़ लोग हैं और लोग पेड़।'

एस पॉल बुनियादी तौर पर काले-सफ़ेद के कलाकार हैं। उनकी तस्वीरों में जो सरलता है उसके लिए रंगीन फ़ोटोकारी अनुकूल भी नहीं है। श्वेत-श्याम और रंगीन फ़ोटोकारी में बहुत बड़ा फ़र्क़ बतलाते हुए वे कहते हैं : 'रंगीन फ़ोटोकारी में फ़ोटो खींचने के साथ ही काम पूरा हो जाता है क्योंकि उसे डेवलप करके प्रिंट करने का काम तो बाज़ारों में मशीनों के ज़रिये होता है। जबकि काले-सफ़ेद चित्रों में असली काम डार्करूम में शुरू होता है जहां फ़ोटोकार अपनी इच्छा के अनुरूप तस्वीरं बनाने के लिए मेहनत करता है। लेकिन आज रंगीन फ़ोटो का व्यापार ज़ोरों पर है। रंगीन फ़ोटोकारी ने हर किसी को फ़ोटोग्राफर बना दिया है और बाज़ार में रंगीन फ़ोटो ज़्यादा महंगी भी बिकती हैं। पर सच्चाई यह है कि काली-सफ़ेद तस्वीरों में जो सादगी और सच्चाई होती है वह रंगीन में नहीं आ सकती। हां, यह ज़रूर है कुछ चीज़ें रंग में ही अच्छी लगती हैं। जैसे सफ़ेद फूल तो काली-सफ़ेद फ़ोटो में बहुत अच्छा आ सकता है, लेकिन रंगीन फूलों के लिए रंग ज़रूरी है या अगर आपको आंधी की तस्वीर लेनी हो तो उस समय का जो रंग होता है और जिस तरह दुनिया बदल जाती है और सारी चीज़ें एक रंग में ढंक जाती हैं तो उसके लिए शायद रंगीन फ़ोटोग्राफी ज़रूरी है।'

कुछ तस्वीरें एस पॉल ने फ़िश-आइ लेंस से भी ली हैं जिससे दृश्यों में एक तरह की गोलाई आ जाती है। ऐसी तस्वीरें पॉल की शैली से कुछ हटी हुई लगती हैं। लेकिन इसके बारे में पॉल का कहना है कि मैंने फ़िश-आइ लेंस का इस्तेमाल सिर्फ़ इतना दिखाने के लिए किया है कि इस आधुनिक लेंस को भी एक कल्पनाशील ढंग से इस्तेमाल किया जा सकता है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ऋत्विक घटक की दो 'नयी' फ़िल्में

ऋत्विक घटक बार-बार लौटते हैं। भारतीय सिनेमा में उनका योगदान इतना गहरा और मौलिक है कि 'अजांत्रिक', 'मेघे ढका तारा', 'सुवर्ण रेखा' और 'कोमल गंधार' जैसी फ़िल्में जब भी दिखलाई जाती हैं, उन पर चर्चा होती है, उनकी तकनीक और कथ्य के नये पहलू प्रकट होते हैं और सिनेमा के गंभीर विद्यार्थियों की रुचि उनमें फिर से जागती है। यह अकारण नहीं है कि देश की सभी भाषाओं के अच्छे फ़िल्मकारों ने ऋत्विक घटक से बहुत कुछ सीखा और पाया है। सिनेमा में ऋत्विक घटक स्कूल जैसी चीज़ तो नहीं बन पायी क्योंकि ऋत्विक घटक ख़ुद ही स्कूल नाम के प्रतिष्ठान के विरुद्ध थे, लेकिन यह ज़रूर है कि 'सुवर्ण रेखा' और 'कोमल गंधार' जैसी फ़िल्में न बनी होतीं तो सिनेमा की नयी धारा में मणि कौल, कुमार शहानी, अवतार कौल, जॉन अब्राहम और जानू बरुआ की उल्लेखनीय फ़िल्मों का नाम न आया होता। ऋत्विक की फ़िल्मों ने फ़िल्म विधा में चिंतन के, काव्यात्मक संवेदना के, लोकजीवन की पहचान के और फ़िल्म-भाषा की सैद्धांतिक समझ के रास्ते खोले और इस अर्थ में हम उन्हें अपना आदि-फ़िल्मकार कह सकते हैं।

ऋत्विक घटक के अस्त-व्यस्त जीवन की कहानियां काफ़ी परिचित हैं। दुनियावी सफलता और व्यवस्थित तरीक़े उन्हें कभी रास नहीं आये। उनकी फ़िल्में सफल और लोकप्रिय नहीं हो पायीं। हो भी नहीं सकती थीं, क्योंकि उनमें व्यावसायिक नुस्ख़े तो नहीं ही थे, बल्कि जिस फ़िल्म-भाषा की रचना वे कर रहे थे वह भाषा ही फ़ार्मूलों के ख़िलाफ़ और सस्ते-सतही मनोरंजन के अभ्यस्त दिमाग़ों के लिए एकदम अजनबी थी। व्यावसायिक समझौते करने की बजाय ऋत्विक घटक अपनी फ़िल्मों में उत्तरोतर जटिल और गहन होते गये। 1957-58 में बनी 'अजांत्रिक' की मार्मिकता और 1960 में बनी 'मेघे ढका तारा' की भावुकता के बाद 1961 में उन्होंने 'कोमल गंधार' जैसी पेचीदा और अमूर्तन-भरी फ़िल्म बनायी और 1962 में बनी 'सुवर्ण रेखा' शायद भौतिक और भावनात्मक विस्थापन की थीम पर बनी अब तक की सबसे सशक्त भारतीय फ़िल्म है। जाहिर है, सिने माध्यम में सामाजिक चिंतन को अभिव्यक्त करने वाली ऐसी प्रवर्त्तनकारी फ़िल्मों का बिकना व्यावसायिक माहौल में असंभव था। इस असफलता ने ऋत्विक घटक के जीवन में अराजकता, अव्यवस्था और शराब को बढ़ावा ही दिया और 1976 की 6 फ़रवरी को इक्यावन साल की उम्र में इस अद्वितीय प्रतिभा को भारतीय सिनेमा से छीन लिया।

सिनेमा के प्रेमी ऋत्विक घटक को कुल आठ फ़िल्मों 'नागरिक', 'अजांत्रिक',

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
'बाड़ी थेके पालिये', 'मेघे ढका तारा', 'कोमल गंधार', 'सुवर्ण रेखा', बांग्लादेश में बनायी 'तितास एकटि नदीर नाम' और अंतिम पूर्ण फ़िल्म 'जुक्ति तक्को आर गप्पो' से जानते हैं। इसके अलावा पूना फ़िल्म इंस्टिट्यूट में बनायी 'फ़ियर' और 'रांदेवू' जैसी लघु फ़िल्में भी बहुत चर्चित रही हैं। लेकिन ऋत्विक घटक बहुत कुछ अधबना भी छोड़ गये। कई फ़िल्में उन्होंने शुरू कीं, कुछ हिस्से फ़िल्माये पर मुख्यतया आर्थिक दिक़्क़तों की वजह से वे कभी पूरी नहीं हो पायीं। इनमें प्रमुख थीं— 'बगलार बंगदर्शन', 'रंगेर गुलाम' और मूर्तिशिल्पी रामकिंकर बैज पर एक डाक्युमेंटरी।

ऋत्विक के प्रशंसकों के लिए एक अच्छी ख़बर यह है कि ऋत्विक मेमोरियल ट्रस्ट ने काफ़ी श्रम से ऋत्विक घटक की दो अधूरी फ़िल्मों 'बगलार बंगदर्शन' और 'रंगेर गुलाम' के जितने हिस्से उपलब्ध हो सके, संरक्षित और संपादित करके नये प्रिंट बनाये हैं और मूल पटकथा से कहानी के सूत्र लेकर उन्हें एक तरतीब दी है। ऋत्विक मेमोरियल ट्रस्ट की स्थापना फ़िल्मकार के निधन के कुछ वर्ष बाद सत्यजित राय, बागीश्वर झा, शंख घोष, ऋत्विक घटक की पत्नी सुरमा घटक और पुत्र ऋतवान घटक ने की थी और इसका उद्देश्य था ऋत्विक घटक के सिनेमा संबंधी विचारों, उनकी कहानियों और नाटकों का प्रकाशन, सभी पूर्ण फ़िल्मों के संरक्षण और अधिकृत प्रिंट तैयार करने और अपूर्ण फ़िल्मों के रशेज़ को संपादित करने का काम। ट्रस्ट ने सबसे पहले ऋत्विक घटक की अंग्रेज़ी में लिखी टिप्पणियों की एक किताब 'सिनेमा एंड आई' 1987 में छापी थी और फिर उनकी बांग्ला कहानियों का संग्रह 'ऋत्विक घटकेर गल्प' शीर्षक से प्रकाशित किया। अब इन दो फ़िल्मों का परिष्कार और संपादन एक ऐसा काम है जिसका ऐतिहासिक-दस्तावेज़ी महत्त्व तो है ही, ऋत्विक घटक की फ़िल्म कला के नये आयाम भी इससे प्रकट होते हैं। ये दोनों फ़िल्में इटली के पिसारो फ़िल्म समारोह में प्रदर्शित की गयीं और ऋतवान घटक के अनुसार, वहां ये न सिर्फ़ बहुत सराही गयीं, बल्कि सिनेमा की अकादमिक बहसों के केंद्र में भी रहीं। ये अधबनी फ़िल्में अब ऋत्विक घटक की उस क्लासिक विरासत में शामिल हो गयी हैं जो नये फ़िल्मकारों को हमेशा कुछ सिखाती चलती हैं।

ऋत्विक घटक को हम हर क्षण घट रही मानवीय त्रासदी, सामान्य जन की करुणा, स्त्रियों के दुखमय मनोजगत और बच्चों के अद्भुत संसार को चित्रित करने वाले फ़िल्मकार के तौर पर जानते आये हैं। अपनी धरती और घर, अपने लोगों, अपनी संवेदना और अपने मूल्यों से भारतीय मनुष्य के उखड़ने की जो भीषण प्रक्रिया विभाजन के साथ शुरू हुई थी, ऋत्विक घटक उसके बेजोड़ चितेरे हैं। लेकिन 'बगलार बंगदर्शन' और 'रंगेर गुलाम' में एक नये घटक सामने आते हैं : हास्य-व्यंग्य और विद्रूप दिखलाने वाले घटक। 'बगलार बंगदर्शन' में विद्रूप और विसंगति को पकड़ने की उनकी क्षमता के दर्शन होते हैं।

'बगलार बंगदर्शन' 1964 की फ़िल्म है और इसके उपलब्ध अंश पंद्रह दिन में फ़िल्माये गये थे। नायक बगला अपना रेलवे पास घर भूलकर बाहर निकलता है। ट्रेन में उसकी मुलाकात कंचनमाला नाम की लड़की से होती है जो घर से इसलिए भाग आयी है

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
कि उसके पिता उसके प्रेमी से विवाह नहीं होने दे रहे हैं। बगला कंचन को घर पहुंचाता है तो उसके पिता बेटी की इच्छा स्वीकार कर लेते हैं पर ग़लती से बगला को उसका प्रेमी समझ बैठते हैं। पहले से ही विवाहित बगला को जबरन विवाह का ढोंग रचना पड़ता है। लेकिन वह कंचन से वादा करता है कि मैं तुम्हें अपने प्रेमी से मिलाकर रहूंगा। कंचन के घर के लोग भी यह भेद जान जाते हैं। अंतत: कंचन अपने प्रेमी से मिलती है, पर बेचारा प्रेमी भी उससे डरा हुआ है क्योंकि घटिया साड़ी देने के कारण कंचन ने उसे पीट दिया था। बगला महोदय आख़िर में जान छुड़ाकर घर लौट आते हैं जहां उनकी पत्नी रेलवे पास भूल जाने की बात कहती है।

इस विनोदपूर्ण कथा-अंश में कोई असाधारण बात नहीं है, पर फ़िल्मांकन का ढंग इसे अनोखा बना देता है। विवाह की तैयारियों और भोज के दृश्य, विवाह के बाद कंचन की मां द्वारा दामाद को उपदेश देने और फ़र्ज़ी दामाद की बदहवासी के दृश्य बताते हैं कि ऋत्विक घटक त्रासदी ही नहीं, प्रहसन के भी फ़िल्मकार हैं। यह फ़िल्म बेशक अधूरी है, पर सारे प्रसंग इस क्रम से रखे गये हैं कि अधूरी नहीं लगती, बल्कि एक दिलचस्प अनुभव से गुज़रने की संतुष्टि देती है। बंगला लोकगीतों, रवींद्रनाथ के गीत और उस्ताद बहादुर ख़ां के जादुई सरोद का इस्तेमाल फ़िल्म का एक सशक्त पहलू है।

'रंगेर गुलाम' 1968 की फ़िल्म है। इसमें संवाद नहीं हैं। यानी संवाद रिकार्ड नहीं किये जा सके थे। इसे संपादित करते हुए संवाद डाले जा सकते थे, पर इससे मूल कृति का दस्तावेज़ी महत्त्व कम हो जाता और एक दूसरी ही फ़िल्म बन जाती। इसके सिर्फ़ बीस मिनट के रशेज़ उपलब्ध थे, लेकिन इतने कम समय में यह अधूरी फ़िल्म एक पूरी कथा कह जाती है।

उपलब्ध कथा इतनी-सी है कि सुशील नामक एक खाता-पीता युवक दुल्हन को लेने ससुराल जा रहा है। उस इलाक़े में भीषण अकाल पड़ा है, लोग भूख और बेरोज़गारी से बेहाल हैं। युवक रेल से उतरता है तो कुली के साथ पैदल चलने की नौबत आती है, पर स्टेशन मास्टर किसी तरह एक नाव का इंतजाम करता है जो आधा सूखी नदी में चलती है। सुशील को एक पागल भिखारिन मिलती है और फिर एक युवती भी, जो गुंडों द्वारा बलात्कार का शिकार होकर आत्महत्या कर लेती है। अपनी पत्नी के साथ लौटता हुआ सुशील उस जगह रुका हुआ दिखता है जहां युवती ने आत्महत्या की थी।

यह कहानी, ज़ाहिर है, अधूरी है, पर इसकी स्थितियों के विरोधाभास हमें बेचैन कर देते हैं। अकाल के बीच दुल्हन से मिलने की यात्रा, रसगुल्लों की हांडी और भिखारिन, दुर्भाग्य की मारी एक युवती का नायक से उसकी पत्नी की साड़ी मांगना और उसे पहनकर डूब मरना-ये सारे प्रसंग गहरी छाप छोड़ते हैं। रेल और नाव ऋत्विक और (और शायद सभी बांग्ला फ़िल्मकारों) की प्रिय वस्तुएं हैं और उसके कुछ शॉट इतने अद्भुत हैं कि फ़िल्म के विद्यार्थी उनसे सीख सकते हैं। संवाद न होने के बावजूद अगर बीस मिनट की यह फ़िल्म समझ में आ जाती है तो इसे ऋत्विक घटक के कैमरे की ही

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ताक़त कहा जाना चाहिए।

दोनों फ़िल्में बहुत क़ायदे और सूझबूझ से संपादित की गयी हैं। इससे पता चलता है कि ऋतवान अपने पिता की प्रतिभा और गरिमा के प्रति सजग हैं। कथा-क्रम को टूटने न देने के लिहाज़ से एक दिलचस्प प्रयोग यह किया गया है कि जिन घटनाओं के शॉट नहीं हैं उन्हें लिखकर बताया जाता है। 'रंगेर गुलाम' में ब्रेष्ट जैसी एक तरक़ीब का भी इस्तेमाल है : दृश्यों को दिखाने से पहले उनके बारे में लिखा हुआ सामने आता है। इससे संवादों का अभाव भी महसूस नहीं होता और ब्रेष्ट के 'अलगाव-प्रभाव' की दिलचस्प झलक भी मिल जाती है। इन फ़िल्मों को अच्छे सिनेमा के दस्तावेज़ की तरह सुरक्षित रखे जाने की ज़रूरत है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हंसते हुए सोचना

मनुष्य की सामान्य भावनाएं ही महान भावनाएं हैं और छोटे-छोटे विवरण ही जीवन का 'विज़न' बनाते हैं। यह बात इतिहास की दूसरी प्रतिभाओं के बारे में आंशिक रूप से सच होगी, पर चार्ली चैप्लिन के जीवन और रचना की मूल संवेदना शायद यही है। इस महान कलाकार को बच्चे और बूढ़े, दार्शनिक और मज़दूर अगर आज भी एक ही शिद्दत से चाहते हैं तो इसकी प्रमुख वजह यही है कि उन्होंने साधारण मानवीय व्यवहारों को फ़िल्म भाषा में अमर कर दिया है। उनकी फ़िल्मों में मनुष्य-स्वभाव के वे बुनियादी सच अभिव्यक्त हुए हैं जो स्थान, परिवेश और समय से निरपेक्ष होकर भी अपने अर्थ बनाये रहते हैं। 'दि किड', 'गोल्ड रश', 'सिटी लाइट्स', 'मॉडर्न टाइम्स' और 'दि ग्रेट डिक्टेटर' जैसी कालजयी फ़िल्मों को दुनिया की जटिलताएं न समझने वाले मासूम बच्चे भी बख़ूबी समझते हैं और वे अधेड़ भी जिनकी संवेदनाएं ख़ासी पेचीदा हो चली हैं। इसका कारण यह नहीं है कि चैप्लिन की फ़िल्में भावुकता और शुद्ध क़िस्म के आवेगों से बनी हैं। फ़िल्म में बौद्धिकता की अपेक्षा करना अप्रासंगिक होगा, लेकिन चैप्लिन में कोरी भावुकता भी कहीं नज़र नहीं आती। उनकी फ़िल्मों का उद्देश्य हमारे एहसासों को ज़्यादा सकारात्मक बनाना रहा और सुखद आश्चर्य है कि वे अब तक यह काम करती आ रही हैं। हिटलर अपनी करतूतों के साथ काल के गाल में समा गया, पर मख़ौल के ज़रिये हिटलर की औक़ात बताने वाली फ़िल्म 'दि ग्रेट डिक्टेटर' कालजयी बन गयी।

चैप्लिन का हास्य हंसी-मज़ाक़ नहीं है और न चुटकुला है, हालांकि अमेरिकी मीडिया लंबे अर्से तक— और शायद अब भी— चैप्लिन को महज़ एक हास्य अभिनेता, विदूषक और 'दि ट्रैंप' (आवारा) के तौर पर प्रचारित करता रहा। अमेरिकी पूंजीवादी तंत्र के लिए यह विदूषक-रूप ही सुविधाजनक था क्योंकि चैप्लिन की फ़िल्मों के कथ्य, दलित-पीड़ित समाज के प्रति गहरी सहानुभूति और उन्हें समाज के सबसे अच्छे चरित्रों के रूप में चित्रित करने का उनका आग्रह अमेरिकी विचारधारा से मेल नहीं खाता था। चैप्लिन हालांकि कम्युनिस्ट नहीं थे, पर अमेरिका में ही उन्हें कम्युनिस्ट होने के 'आरोप' में ख़ासा परेशान किया गया। दरअसल चैप्लिन कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य कभी नहीं थे, पर उनकी फ़िल्मों का कथ्य, उनकी जीवन-दृष्टि और संदेश स्वाभाविक रूप से पूंजीवाद के विरोध में जाते थे। शायद दुनिया में जितने भी गहरे मानवतावादी लेखक-कलाकार हुए हैं वे प्रगतिशील ही रहे हैं, हालांकि किसी पार्टी में शामिल होना उनके लिए भले ही ज़रूरी न रहा हो। चैप्लिन के लिए जीवन के अनुभव सैद्धांतिक दर्शन से बड़े शिक्षक थे।

चैप्लिन की प्रसिद्ध फ़िल्म 'गोल्ड रश' में दो भूखे व्यक्तियों (एक निरीह और

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

एक भीमकाय) द्वारा जूते उबालकर उन्हें मछलियों की तरह खाने का एक दृश्य है। दोनों भूखों में जूतों का ऊपरी मुलायम हिस्सा झपटने के लिए झगड़ा होता है और आख़िरकार मुलायम हिस्सा शारीरिक बल वाले मोटे भूखे को मिलता है। चैप्लिन के हिस्से जूते का तला आता है। चैप्लिन ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि इस दृश्य की प्रेरणा उन्हें प्रथम विश्वयुद्ध के एक विवरण को पढ़कर मिली थी जिसमें घायल सिपाहियों द्वारा अपने घोड़ों को मारकर भूख मिटाने का ज़िक्र था। चैप्लिन ने यह घटना पढ़ी और इसे एक हास्य प्रसंग की शक्ल ही नहीं दी, बल्कि एक मार्मिक सामाजिक टिप्पणी में बदल दिया।

सिनेमा में मानव व्यवहारों का चैप्लिन से बड़ा निरीक्षक शायद अब तक कोई नहीं हुआ। उनकी एक फ़िल्म में एक अमीर नशे में अपनी कार एक ग़रीब को भेंट कर देता है और फिर होश में आते ही उससे वापस ले लेता है। यह क्रम बार-बार दुहराया जाता है। 'गोल्ड रश' का ग़रीब नायक एकाएक अमीरी पा जाता है तो उसके कपड़े ज़रूर बदल जाते हैं, स्वभाव नहीं बदलता। लिहाज़ा संभ्रांतों की एक पार्टी में जाते हुए वह अपने से आगे चलते एक संभ्रांत को अपनी जलती सिगार ज़मीन पर गिराते देखता है तो लपककर उठा लेता है।

चैप्लिन की फ़िल्मों के ऐसे अनेक मार्मिक प्रसंग प्रसिद्ध हुए हैं जो मनुष्य के वर्ग व्यवहार की अनिवार्यता को चित्रित करते हैं और वे प्रसंग इतने अमर हैं कि उन्हें मूल फ़िल्मों से काटकर अलग भी देखा या याद किया जाये तब भी हम हंसते हैं और कुछ सोचने लगते हैं। हंसने और सोचने का यह मेल, मनोरंजन और शिक्षा का यह अनोखा संगम चैप्लिन का महान गुण है। मनोरंजन और शिक्षा के मेल के पक्षधर महान जर्मन कवि-नाटककार बेर्टोल्ट ब्रेष्ट ने कहा था कि 'मैं सबसे अच्छा निर्देशक हूं— पर चैप्लिन के बाद।' दिलचस्प यह है कि इस वर्ग अवधारणा और व्यवहार को चैप्लिन बुद्धिजीवी या सिद्धांतकार की कसौटी से नहीं, एक बच्चे की निश्छल आंख से देखते हैं। सबसे मासूम और अदूषित दृष्टि बच्चों की ही होती है, हालांकि यह भी सच है कि बच्चों से ज़्यादा बारीक़ और पैनी निगाह भी किसी के पास नहीं होती। समाज में दबे हुओं, ग़रीबों, मजदूरों, आवारों और तलछट या हाशिये के लोगों को चैप्लिन जैसे इस चतुर समाज के बचपन के तौर पर उजागर करते हैं। उनके यहां ये चरित्र कहीं भी नकारात्मक नहीं हैं। उनकी फ़िल्में ग़रीब आदमी को अच्छे आदमी के रूप में अभिव्यक्त करती हैं, पर उनमें ग़रीबी का महिमामंडन भी नहीं है। चैप्लिन ग़रीबों के पक्षधर हैं और ग़रीबी के विरोधी। कहते हैं, एक बार एक पेशेवर अमेरिकी समीक्षक ने कहीं लिखा कि 'चैप्लिन नाम का यह आवारा बहुत दिलचस्प और प्यारा आदमी है और उसे ग़रीबी से बहुत प्यार है' तो चैप्लिन ने झल्लाकर लिखा कि कोई पागल आदमी ही ग़रीबी से प्यार कर सकता है। मुझे ग़रीबी से ज़रा भी प्यार नहीं है। ग़रीबी एक गंदी और मनुष्य का अपमान करने वाली चीज़ है।

चैप्लिन की फ़िल्में भी यही करती हैं। वे समाज में ग़रीबी बांटनेवाले अमीर की असलियत उधेड़ती हैं, एक ग़रीब आदमी से उसका मज़ाक़ उड़वाती हैं और इस स्थिति के कारणों पर हंसते-हंसते हम एकाएक सोचने लगते हैं।

1989 (चैप्लिन की जन्मशती पर)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जैसे कोई फ़िल्म सहसा ख़त्म हो जाये

स्मिता पाटील अचानक चली गयीं। जैसे पर्दे पर चलती फ़िल्म सहसा ख़त्म हो जाये और हाल में जलती रोशनियों में वास्तविकता से घिरते दर्शक हतप्रभ रह जायें कि यह क्या हुआ है। स्मिता को बुख़ार आया, शरीर की कोई नस फटी, नाक-मुंह से ख़ून गिरा और सिर्फ़ एक दिन की बेहोशी के बाद बंबई के जसलोक अस्पताल से हमारे समय की एक बड़ी अभिनेत्री का अंत हो गया।

कोई पखवारे-भर पहले ही स्मिता पाटील मां बनी थीं। मातृत्व पाने पर वे बेहद प्रसन्न थीं, जैसे जीवन की एक नयी और सबसे सार्थक भूमिका उन्हें मिली हो। बंबइया अभिनेत्रियां आम तौर पर ऐसी निजी घटनाओं को गोपनीय बनाकर रखती हैं और प्रेस को उसकी हवा नहीं लगने देतीं, पर स्मिता ने मां बनने से पहले कई पत्र-पत्रिकाओं को फ़ोटो सहित इंटरव्यू दिये थे और एक स्त्री की गरिमा के साथ बताया था कि किस तरह यह उनके जीवन का सबसे सच्चा और महान अनुभव होने जा रहा है। लेकिन इस अनुभव के साथ जीने के लिए वे नहीं रहीं।

स्मिता पाटील का संक्षिप्त जीवन ही ऐसी आकस्मिकता से भरा हुआ था। बंबई दूरदर्शन पर ख़बर पढ़ने वाली दुबली-सांवली मराठी लड़की स्मिता को कल्पना भी नहीं थी कि वह एक दिन सिनेमा की दुनिया में अभिनय के नये पैमाने बना देगी। श्याम बेनेगल तब तक 'अंकुर' जैसी कृति से हिंदी सिनेमा में यथार्थवादी मुहावरे की ताज़गी के साथ प्रवेश कर चुके थे और इस तरह अचानक ही स्मिता का मामूली, सांवला चेहरा 'निशांत' में उभरा, जो बाद में एक विशिष्ट और अद्वितीय चेहरा साबित हुआ।

'निशांत' के बाद 'मंथन', 'भूमिका', 'चक्र', 'आक्रोश', 'अर्धसत्य', 'अर्थ', 'सुबह', 'बाज़ार', 'अल्बर्ट पिंटो को ग़ुस्सा क्यों आता है' जैसी फ़िल्मों का एक सिलसिला है, जिनके साथ हिंदी सिनेमा का कायाकल्प जैसा हुआ। 'भूमिका' और 'चक्र' के लिए स्मिता को दो बार राष्ट्रीय पुरस्कार मिला। इन्हीं फ़िल्मों ने स्मिता पाटील को अभिनय के क्षेत्र में वह पहचान दी जो इतने कम समय में पहले किसी अभिनेत्री को नहीं मिली। लेकिन एक दिन अचानक स्मिता पाटील ने व्यावसायिक सिनेमा की ओर रुख़ किया—शायद यह सोचकर कि वे तथाकथित कला फ़िल्मों के अलावा ग्लैमर वाली फ़िल्मों में भी अपनी श्रेष्ठता साबित कर सकती हैं।

जया भादुड़ी जैसी अनिवार्यता न हो, तो अपने कैरियर में इतनी प्रसिद्धि और

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सार्थकता मिलने पर आम तौर पर कलाकार विवाह के बारे में सोचते भी नहीं। लेकिन स्मिता ने अचानक ही विवाह करने और मातृत्व का 'अद्वितीय सुख' अनुभव करने का फ़ैसला किया। उन दिनों बंबई में अविवाहित अभिनेत्रियों द्वारा विवाहित अभिनेताओं से विवाह का बुख़ार-सा फैला था। स्मिता ने भी विवाहित अभिनेता राज बब्बर के साथ घर बसाया, हालांकि इसमें शुरू में काफ़ी दिक़्क़तें आयीं, पर अंत में स्मिता खुश थीं कि उनकी गृहस्थी शांति से चल पड़ेगी।

जिस दौर में स्मिता पाटील ने बंबइया सिने-संसार में प्रवेश किया, वह अभिनय से ख़ाली दौर था। वहीदा रहमान जैसी बड़ी अभिनेत्री का युग जा चुका था और जया भादुड़ी विदा ले रही थी। हेमा मालिनी सिर्फ़ 'स्वप्न सुंदरी' के तौर पर थी, रेखा भी अभिनय से ज़्यादा अपनी शोख़ी और ग्लैमर के लिए जानी जाती थी। तब अभिनेत्री बनने के लिए सुंदर चेहरा और आकर्षक शरीर ही शर्त थी। उस समय दो अभिनेत्रियों शबाना आज़मी और स्मिता पाटील ने आकर इस सौंदर्य-समीकरण को गड़बड़ा दिया। शबाना में फिर भी कुछ ग्लैमर था, पर स्मिता की छवि आम लड़की वाली थी जो अभी-अभी कॉलेज से निकल कर आयी हो। इन दोनों अभिनेत्रियों ने अपनी पहली-पहली फ़िल्मों से ही जता दिया था कि अभिनय के लिए चेहरा नहीं दिमाग़ चाहिए। उस समय सुंदर हीरोइनों का फ़िल्मों में साज-सज्जा से ज़्यादा महत्त्व नहीं था। वे किसी प्रतापी क़िस्म के सुपरस्टार के साथ गाने-नाचने और अंत में उसकी दासी बनने के काम आती थीं। उनका कोई व्यक्तित्व नहीं था, इसलिए उनसे किसी क़िस्म के अभिनय की उम्मीद नहीं की जाती थी।

स्मिता (और शबाना भी) के साथ फ़िल्मों में फिर से अभिनय की शुरुआत हुई और व्यक्तित्व की भी। पर्दे पर हमारे समाज में स्त्रियों के व्यक्तित्व की जटिलता, उनकी त्रासदी, उनके अंतर्द्वंद्व और आज़ादी के सवालों की अभिव्यक्ति शुरू हुई। यह ग़ौरतलब है कि अपनी पहली फ़िल्म 'निशांत' में स्मिता ने एक उत्पीड़ित स्त्री (ज़मींदार बने नसीर की पत्नी) की भूमिका की थी और इतने विश्वसनीय ढंग से कि उसके साथ ही स्मिता एक महत्त्वपूर्ण अभिनेत्री बन गयी। मराठी अभिनेत्री हंसा वाडकर के जीवन पर आधारित फ़िल्म 'भूमिका' में स्मिता ने अपने जीवन का अविस्मरणीय अभिनय किया था। हंसा वाडकर की ज़िंदगी के अधूरेपन, उसकी बेचैनी, प्रेम में हर बार ठगे जाने की कुंठा और इस तरह हमारे समाज की हालत को स्मिता ने शिद्दत के साथ साकार किया था। 'बाज़ार' और 'सुबह' में भी उनकी भूमिकाएं एक स्वतंत्र व्यक्तित्व और आज़ादी की तड़प को अभिव्यक्त करती थीं। 'अलबर्ट पिंटो को ग़ुस्सा क्यों आता है' में स्मिता की छोटी-सी एक लंगड़ी लड़की की भूमिका थी जो साड़ियों की दूकान में सेल्सगर्ल है। पर घर में वही सबसे हिम्मती और सहनशील है। दरअसल उनकी तमाम भूमिकाएं किसी न किसी तरह दबी-कुचली, प्रताड़ित, सहमी हुई और पुरुषों के बनाये जीवन में बेतरह उलझी स्त्री को सामने लाती हैं। उन्होंने स्त्रियों के बाहरी रूप का नहीं, उनकी आत्मा का अभिनय किया।

हिंदी में वहीदा रहमान या बांग्ला में माधवी मुखर्जी जैसी अभिनेत्रियों को हम

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आज भी, जब वे अभिनय नहीं कर रही हैं, याद रखते हैं। स्मिता का अभिनय इस परंपरा का एक विकास है। उन्होंने इन दोनों अभिनेत्रियों के मुक़ाबले कहीं जटिल चरित्रों को अभिव्यक्त किया। स्मिता के अभिनय की संवेदनशीलता यह थी कि होठों की एक फुरकन, आंखों की एक मामूली हरक़त या चेहरे पर पड़ने वाली कोई लकीर ही यह बता देती थी कि क्या हुआ है और यह कौन-सी भावना है।

शायद छोटी चीज़ों की मार्फ़त बड़ी चीज़ों को बता देना ही बड़ी कला होती है। स्मिता में यह ख़ूबी थी। इस अर्थ में उनका छोटा-सा जीवन एक महत्त्वपूर्ण कलाकार का बड़ा जीवन बन जाता है।

दिसंबर 1986

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संवाद

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हमारे अपने जनपद का कवि

कवि त्रिलोचन से बातचीत

हिंदी की देशज और प्रगतिशील कविता के चार-पांच बड़े कवियों में शुमार किये जाने वाले त्रिलोचन शास्त्री मनीषी और विद्वान की तरह बात करते हैं, जब संस्मरण सुनाते हैं तो जैसे विचार, दृश्य और कल्पना की एक नदी बहती दिखती है, हंसते हैं तो मासूम बच्चे की तरह। सामने बैठकर बात करते व्यक्ति को वे जैसे सहसा उठाकर अपने चिंतन के धरातल पर ले आते हैं और उससे बराबरी का रिश्ता बना लेते हैं। संस्कृत, फ़ारसी, हिंदी, अवधी, अंग्रेज़ी में जो भी उद्धरण वे देते हैं उनमें विद्वता का बोझ नहीं बल्कि चिंतन की शांति और भारहीनता होती है जो तुरंत आपके अनुभव का हिस्सा बन जाती है। दरअसल किसी बच्चे को भी अपने बराबर ले आने का अद्भुत गुण उनकी पूरी पीढ़ी में रहा है। उनके साथ बैठकर लगता है कि लंबे समय तक, कई दिन तक बैठे रहें और उन्हें सुनते रहें।

बीस अगस्त को पचहत्तर साल पूरे करने के एक दिन पहले हुई इस बातचीत के लिए समय ज़्यादा नहीं था और यह असमंजस भी था कि त्रिलोचन से क्या सवाल पूछे जायें। कविता के बारे में, भाषा के बारे में, प्राचीन काव्य परंपरा के बारे में या इस बारे में कि उन्होंने कैसा बीहड़ जीवन जिया?

- **आजकल आपकी दिनचर्या क्या रहती है? कुछ लिख रहे हैं...**

त्रिलोचन शास्त्री : इन दिनों ज़्यादातर कुछ किताबें हैं जो रिव्यू के लिए मेरे पास हैं। और जल्दबाज़ी तो मैं कर नहीं पाता। बिना पूरी किताब पढ़े रिव्यू नहीं कर सकता। आजकल देवेंद्र सत्यार्थी का जो अभिनंदन ग्रंथ निकला है वह मुझे मिला है। थोड़ा सा बाक़ी रह गया है। किताब काफ़ी मोटी है। बहुत से जो छोटे-छोटे लेख हैं वे सिफ़ारिशी लगते हैं या जैसे कोई प्रशंसापत्र दे रहा हो। किसी लेखक पर अच्छा लिखना चाहिए...

- **कुछ कविताएं भी इन दिनों लिखी हैं?**

त्रिलोचन : कविता 1988 से एक भी नहीं लिखी। पत्नी के निधन के बाद मन उतना समाहित हुआ ही नहीं कि मैं लिख पाता कविता। गद्य की चीज़ें चलीं बस। कविता तो योजनानुसार बैठ जाइए तो नहीं बनती। मेरा अपना निज का अनुभव यही है।

- **आपकी कविता में गद्य की एक बड़ी भूमिका है, उनका आपस में गहरा रिश्ता है। बल्कि आपने कुछ ऐसी कविताएं भी लिखी हैं जिन्हें आपने चाहे न कहा हो, दूसरों ने गद्य कविता कहा है।**

त्रिलोचन : मैं स्वयं कहता हूं गद्य कविता। याद रखिए कि हिंदी में छायावाद युग में गद्य

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

काव्य लिखा गया। इस गद्य काव्य पर छंदोबद्ध काव्य की शब्दावली और मुहावरे का पूरा असर था। तो मैंने यह चाहा कि भाषा तो एक ही है, इसे छंद में बांधिए चाहे छंद से छूटने दीजिए, भाषा की लय पकड़िए। लय तो गद्य और पद्य दोनों में होती है। गद्य की लय थोड़ा अलग जाती है, वह अनियंत्रित होती है और पद्य की लय नियंत्रित होती है। कवि वहां पंक्ति के अनुवर्तन में है, उसे हर पंक्ति को पूरा करना ही है चाहे भाव हर पंक्ति के पूरा होने के पहले ही ख़त्म हो जाये। पूरा करने में शब्दों की मान लीजिए कमी आ गयी तो 'अहो अहा' और 'कहो कहा' जैसी बातें आने लगती हैं। बहरहाल, दुनिया के अधिकतर आलोचकों का विचार यह है कि पहले कविता बनी जब भाषा विकसित नहीं थी। मेरा यह कहना है कि कविता तो पहले बन ही नहीं सकती। गाने की बात आ सकती है जो शब्दहीन हो, केवल स्वर। कविता तभी आयेगी जब भाषा का पूरा विकास हो जाये। वाल्मीकि को देखिए तो मालूम हो जायेगा कि क्यों वही आदि-कवि है और वही श्रेष्ठतम कवि है। कालिदास आदि उनकी बग़ल में बच्चे जैसे लगते हैं। दूसरी बात, कविता की कोई पॉलिश नहीं है उनकी कविता में, क्योंकि तब तक कविता थी नहीं। बाद में तो भाषा की पॉलिश, ख़यालात की पॉलिश—यह सब कविता में जुड़ती है। यहां तक कि लोकगान भी जो आयेगा, वह जो जनपदीय भाषा होगी वह जब विकसित होगी तब आयेगा।

- **गद्य कविता भी जिसे चंपू काव्य कहा जाता है, छायावादी दौर में लिखी गयी।**

त्रिलोचन : नहीं, चंपू काव्य में गद्य रचना और पद्य रचना अलग-अलग आती थी। और कुछ बातें रचनाकार अपनी ओर से लिखता था, कुछ अन्य किताब से। लेकिन यहां तो गद्य और पद्य को मिलाने की बात नहीं है। असल बात यह देखना है कि वह मूल चीज़ क्या है जो कविता बनाने में सहयोग करती थी। जैसे उत्प्रेक्षाएं या बिंब पर बिंब जड़ दिये। जो उस जीवन को देख-भोग चुके हैं वे उसे सराहेंगे। जैसे आप सर के बालों को संवारते हैं, यह आपकी अपनी रुचि है या जो रुचि समाज से मिलकर बनी है। लेकिन बालों के कारण आपका अस्तित्व है— यह तो ग़लत है। या आप कमीज़ पहनते हैं, यही आपका व्यक्तित्व है, यह तो ग़लत है। उपमा रूपक बिंब, ये तो रोम हैं काव्य शरीर के। ये न भी हों तो काव्य चाहिए।

- **यानी काव्य का विचार काव्य है। आपकी कविताओं, मसलन 'धरती' के गीतों में ही लगता है कि अनुभूति के धरातल पर भी विचार खोजने का प्रयास है।**

त्रिलोचन : पंत जी की चर्चा नयी रुचि वालों में कम हो गयी है। और जिसका नाम लोग ज़्यादा लेते हैं, उसे बिना समझे, यानी निराला, और ऐसे ही प्रसाद। इन तीनों को मैं ऊंचा कवि मानता हूं। इसमें संदेह नहीं कि निराला में कई ऐसी ख़ूबियां हैं जिनके कारण मैं उनकी सराहना करता हूं। लेकिन फिर पंत में भी कम नहीं हैं। यह ज़रूर है कि पंत की श्रेष्ठ काव्य पुस्तकें 'पल्लव' से 'गुंजन' तक हैं। बाक़ी अच्छी कविताएं ढूंढ़नी पड़ती हैं। पर इससे वे छोटे नहीं हो जाते हैं। प्रसाद बराबर विकास करते हैं। मान लीजिए वे अड़तालीस साल की उम्र में न गुज़रे होते तो वे कैसी रचना कर सकते, यह 'हेतु हेतु

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मद्‌भूति' में कह रहा हूं। पर यह आलोचना का विषय नहीं हो सकता। संभावना को आधार बनाकर विचार करना ग़लत है।

विचार-प्रधान कविता देखनी हो तो असल में विचार-प्रधान कविता का विरोध अमेरिका से शुरू हुआ। कारण यह है कि प्रगतिशील रचनाएं जो आ रही थीं उनसे उनके पूंजीवाद को ख़तरा था। आज भी उनके यहां विचार-प्रधान कविता आये तो विरोध होगा। तो हमारे यहां के मनीषियों ने समझा कि विचार को डांटो, विचार-शून्य कविता लिखो। भैया, विचार को डांट दीजिएगा तब भी विचार रहेगा। कवि पंत ने दो पंक्तियां लिखी हैं : 'मुझे रूप ही भाता/ प्राण रूप ही मेरे मन में मधुर भाव बन जाता।' याद रखिए, कवि-चित्रकार-मूर्तिकार रूप ही को देखते हैं। और कवि जिस बात में आगे जाता है चित्रकार से, वह बात यह है कि जो रूप देखा, उस पर निष्कर्ष वह दे सकता है। लेकिन चित्रकार-मूर्तिकार शरीर की जितनी चेष्टाएं एक साथ दे सकते हैं, उन्हें आप सिर्फ़ यथाक्रम देंगे। माने काल-प्रवाह के साथ वे समांतर नहीं होंगी। समांतर चलने की क्षमता चित्रकार में है। वह क्षण के सहस्रांश को पकड़ सकता है और कवि प्रवाहित काल को पकड़ सकता है।

तो बंधुवर, कभी-कभी जीवन के संचालक विचार होते हैं। आप प्रतिदिन सुबह जग कर सोचते हैं आज यह-यह करेंगे। उनमें जो नहीं होता, सोते समय सोचते हैं कि यह ज़रूरी काम था, आज हो जाना था। यह विचार जब आपके जीवन का संचालक है तो जितने सावधान सचेत लोग हैं, तो उस विचार का काव्य में विरोध करने वाला विचार-मूढ़ होगा। क्योंकि विचार ही का दूसरा रूप होता है भाव जो आकार से मिल कर चेष्टा आदि में परिवर्तित होता है और क्रिया बनता है तो गति के साथ मिल कर।

• विचार के लिए आपने जो रूप या आकार अपनाये, उनमें भी बहुत विविधता दिखती है। जैसे 'गुलाब और बुलबुल' की ग़ज़लें या 'दिगंत' के सॉनेट या 'धरती' के गीत। कई तरह के काव्य-शिल्पों के प्रयोगों के पीछे कौन से कारण थे?

त्रिलोचन : 'गुलाब और बुलबुल' का एक शेर मैं कहे दे रहा हूं। इस शेर में कुक्लूस नाम के एक पक्षी का रेफ़रेंस है। कुक्लूस के लिए अरबी में एक लीजेंड है कि यह केवल नर होता है, मादा नहीं। तो यह कुक्लूस जब आख़िरी गाना गाता है तो स्वरों से आग निकलती है और उस आग से जलकर वह राख बन कर उस पेड़ पर रह जाता है। जब बरसात होती है — और अरब में बहुत कम बरसात होती है — तो बारिश से वही फिर नर पक्षी हो जाता है। कुक्लूस का रेफ़रेंस उर्दू शायरी में भी कम मिलेगा। थोड़ी-सी अरबी जानने के कारण मैंने यह पाया। इसे एक तरह का फ़ीनिक्स कहिए। अब अपने यहां के परिवेश को लेते हुए जो शेर कहा वह यह है। वीणापाणि को रेफ़र करते हुए इस शेर में कहा गया है। तो कुक्लूस जैसे अपने ही स्वर की अग्नि में जल जाता है वैसे ही मैं यह मानता हूं कि कविता अगर बनती जायेगी तो कवि नष्ट होता जायेगा। कोई कवि सहज और स्वस्थ रहे तो समझ लीजिए कुछ क़सर है। कविता तो एक जीवन को तोड़कर सकल जीवन बनाती है। और जो जीवन टूटता है वह कवि का है। भोगना उसे है। माने यह इंद्र का वह वज्र है जो केवल रघु ही झेल सकता था। हर किसी पर वज्र गिरे वह नष्ट हो जायेगा। तो उस शेर में कहा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है : 'क्यों कहीं यह बात वीणापाणि ने तुमसे त्रिलोचन/आज ओ कुक्लूस गाकर तार जीवन के हिला दो।'

• मेरी बात में यह सवाल भी था कि आपने गीत, ग़ज़लें, सॉनेट लिखे, फिर ऐसी कविताएं भी जिनमें छंद का एक भीतरी निर्वाह ज़रूर रहता है। और कुछ ऐसी लंबी कविताएं भी लिखी हैं जो अद्भुत रूप से वर्णनात्मक हैं। मसलन, 'चित्रा जांबोरकर', 'नगई महरा'। आपने इतने सारे फ़ॉर्म क्यों अपनाये?

त्रिलोचन : असल में लिखते समय विषय का जो दबाव रहता है, आकार वही तय करता है। लिखने वाला इसे तय करेगा तो कृत्रिमता आयेगी और उसका निबाह न होगा। यह बात भूलने की नहीं है कि कविता तो वही रचना होगी, जो चाहे गद्य में या पद्य में, लेकिन वह फ़ालतू न आये और न्यून न हो, जैसे प्राचीन काल के कवि को यह सुविधा थी कि छंद में लिख रहा है तो मेघनाद को घननाद भी लिख दे। या तोयनाद, वारिदनाद आदि। आज तो आप किसी आदमी को पर्यायों से नहीं बुला सकते। तुलसीदास तो बुलाते हैं: 'वारिदनाद जेठ सुत तासू। भ्रातु यह प्रथम लीक जग जासू।' 'वारिद बानी' शब्द तुलसीदास का है। मैंने भी इसका उपयोग किया है एक जगह: 'गूंज रही है इधर आक्षितिज वारिद बानी।' तो असलियत यह है कि परंपरा से हम कब क्या ले लेते हैं। कोई शब्द मान लीजिए व्यवहार में नहीं है तो उस शब्द को नया जीवन देना भी कविता को अर्थवान बनाता है।

• सॉनेट जैसे बहुत छोटे फ़ॉर्म को अपनाने के लिए कैसे प्रेरित हुए?

त्रिलोचन : सॉनेट के बारे में सुनिए। एक हुआ है बेन जॉनसन। 1621 तक जीवित रहा। पैदा हुआ था 1573 में। यानी शेक्सपीयर से नौ साल छोटा था। वह ग्रीक और लैटिन का भी मास्टर था। पर अधिकार होना और आनंद लेना — इनमें अंतर होता है। अधिकार उनका माना जायेगा जो चमत्कारिक भाषण करते हैं और समय और संस्कार लेने की जिनमें क्षमता है। हो सकता है वह बोल न पाये। पर उससे ज़्यादा टिकाऊ संस्कार लेने वाला होगा। अपने युग में कोई बड़ा कवि मालूम नहीं होता कि बड़ा है। सड़क पर चलते हुए लोगों में बड़े से बड़ा आदमी भी अपरिचेय रहता है। ऐसे ही रचना में कौन बड़ा है, इसका फ़ैसला तो उसके बाद के हर दशक में होता रहता है। चर्चा करने वाले अगर बढ़ रहे हैं तो लोकप्रियत्व साबित होता है। और समझदार अगर उस पर और काम कर रहे हैं तो इसका मतलब रचनात्मक क्षमता उसमें है।

तो बेन जॉनसन के यहां 'टेबल टॉक' होती थी। पब में टेबल टॉक कर रहे हैं और पीने का ऑर्डर दे रहे हैं। साहित्यकार उन दिनों वहां भी इसी तरह तबाह थे जैसे हमारे यहां आज हैं। तो साहित्यकारों के कुछ भक्त होते थे जो 'टेबल टॉक' को लिखा करते थे। कई किताबें हैं इस टेबल टॉक की। तो जॉनसन से किसी ने पूछा कि सॉनेट पर क्या विचार हैं आपके? उसने ग्रीक लीजेंड से एक नाम लिया और कहा यह प्रोप्रेस्तेत का बिछौना है। प्रोप्रेस्तेत एक राक्षस था जो एक बिछौना और एक कुल्हाड़ी लिये घूमा करता था और जो भी चलता-फिरता नज़र आये, वह हाथ जोड़कर कहता था बैठ जाइए, आराम कीजिए। अगर कोई बैठ गया तो फिर प्रार्थना करता था कि आप लेट जाइए। और लेटने में उसके

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

शरीर का जो भी हिस्सा निकलता था उसे कुल्हाड़ी से काट देता था और खा जाता था। यानी सॉनेट में अगर कविता का पांव बढ़ रहा है तो पांव काट देंगे, सर बढ़ रहा है तो सर काट देंगे। सॉनेट पर जब व्यंग्य हुए तो शेक्सपीयर ने इसका जवाब दिया : 'रिब्यूक नॉट सॉनेट।' उसने कहा कि यह हमारी वह कोठरी है जिसमें हम साधना करते हैं।

• त्रिलोचनजी, आपकी पीढ़ी के ज्यादातर महत्त्वपूर्ण कवि अपने से बाद की पीढ़ी के रचनाकारों से भी जुड़े रहे हैं। आपसे बात करते हुए किसी को यह एहसास नहीं होगा कि वह किसी बड़े कवि या विद्वान या बड़े आदमी से बात कर रहा है। क्या रचना के स्तर पर भी नयी पीढ़ी से आपका संवाद रहा है ? क्या आप उनकी कविताएं पढ़ते रहे हैं ?

त्रिलोचन : देखिए, निराला को तो अपने से बाद के कवियों की कविताएं भी कंठस्थ रहती थीं। भाषा का क्या काम है कविता में, इसकी अवधारणा हम अपने उस काल से करते हैं जब हम कविता भी शुरू करते हैं और प्रति कविता में हम भाषा के अनुद्घाटित रूप की ओर ध्यान देते हैं। तो यह हमारी रचना द्वारा प्रकट होगा और इसका प्राकट्य सब नहीं देख पायेंगे। इसीलिए किसी कविता को समझने वाला रचने वाले के समांतर उसी स्तर का हो। विरोध करना या कोरी प्रशंसा करना, दोनों एक ही स्तर के हैं। आप देखकर दोष देखें तो उसे साफ़ कहें और मैत्री का ध्यान न रखें। हमने 1944 में एक लेख लिखा था। जानकीवल्लभ शास्त्री पर। उनकी दो पुस्तकें मिली थीं। जानकीवल्लभ ने व्यंग्य कविताएं दी हैं 'गाथा' में। अगर रूमानियत आ गयी व्यंग्य कविता लिखते हुए तो आपकी व्यंग्य की धार कुंठित हो जायेगी। वे आज भी मेरे अत्यंत आदरणीय, प्रतिभाशाली, ऊंचे कवि हैं। पर उसे मैंने रेखांकित किया। तो मैत्री तो है। वे तो मेरे विषय में सुनी-सुनायी बात भी कह देते हैं, मैं नहीं कहता। लोगों से बात करते हुए वे नाली में गिरे हुए रहते हैं, इतना पीते हैं। भाई, उन दिनों की याद मुझे आती है जब मैं बनारस था। इतने पैसे ही न थे कि हम परिवार का ही पोषण कर पायें। नाली में गिरने का सौभाग्य कहां से मिलता! किसी ने उन्हें सुनाया होगा और उन्होंने मुझसे पूछा नहीं।

बहरहाल, भाषा जब विकास करती है तो हर नयी पीढ़ी के साथ थोड़ा नयापन लेती है। और अगर पुरानी पीढ़ी का मेरे जैसा आदमी युवकों के साथ संपर्क करना चाहे तो कुछ दिन बाद लोग ऊब जायेंगे कि भाई यह बड़ी उम्र का आदमी हम लोगों का सारा मज़ा किरकिरा कर देता है और महा बोर है। तो इस हालत में हमें छापे के अक्षर ही देखने पड़ेंगे। अगर हम अपनी उम्र वाले लोगों से मिलें तो हमारी जो शैली युवावस्था की है वही बरक़रार रहेगी। इस दुर्भाग्य से बचना चाहिए। निराला जानते हैं कैसे बचते थे ? उन्होंने तो उस वर्ग तक से संपर्क किया जहां नयी पीढ़ी भी नहीं पहुंची। श्रम करने वाले, तीर्थयात्री, नंगे पैर चलने वाले— इन लोगों के साथ ज़मीन पर बैठकर बात करते थे। तो ऐसा आदमी निरंतर ताज़ा होता जायेगा। निराला में आख़िरी समय तक ताज़गी है। यही ताज़गी अगर बनी रहे तो आप कवि रह सकते हैं। और किसी विचारधारा का समर्थन करने के लिए अगर आप कविता लिखें तो याद रखिए आप कवि कम हैं, उस विचारधारा के अनुवर्ती हैं, भले ही वह विचारधारा आपकी बुद्धि को स्वीकार्य हो गयी हो। इसीलिए जब लोगों ने

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अपने को प्रतिबद्ध कहना शुरू किया तो मैंने कहा कि प्रतिबद्धता जो है मेरे वे विचार हैं जो मेरे अंदर हैं, उनके लिए किसी घोषणा की ज़रूरत नहीं है। मेरी कविता लोग पढ़ेंगे तो कविता के बतौर पढ़ेंगे, मेरे विचारों के लिए नहीं। निराला को जो वेदांत ज्ञान के लिए पढ़ता है वह भ्रांत है। उसके लिए शंकराचार्य आदि को पढ़ना चाहिए या और टीकाकारों को। और इन शास्त्रों के अनुसार जो कविता करता है वह कवि अपने को छात्र सिद्ध करता है। कवि तो ऐसी मुद्राएं देता है कि नये शास्त्र पैदा हों।

• आपकी रचनात्मकता में लोकजीवन के अलावा दो बहुत महत्त्वपूर्ण स्रोत या 'पवाइंट्स ऑफ़ रेफ़रेंस' लगते हैं। वे हैं — तुलसी और निराला। आपकी भाषा के भी स्रोत उनमें हैं। एक कवि के रूप में आपने अपनी यात्रा में तुलसी और निराला से किस तरह का रिश्ता महसूस किया है?

त्रिलोचन : निराला भाषा बदल जाने के कारण और अपने युग से ही संबद्ध होने के कारण मेरे क़रीब हैं। निराला के समय के और जो कवि हैं वे तो छायावाद में आते हैं, जबकि निराला छायावाद को भी लांघ जाते हैं। यह लांघना कम नहीं है। इसी प्रकार पूर्ववर्त्ती कवियों में तुलसीदास हैं। मेरी कविताओं में बहुत जगह आपने देखा होगा कि त्रिलोचन शब्द मैंने डाल दिया है। अन्य पुरुष में है त्रिलोचन वहां। 'भीख मांगते उसी त्रिलोचन को देखा कल।' त्रिलोचन के जीवन को जो जानेगा, उससे मिलने-जुलने वालों से, तो वह जानेगा कि यह भीख नहीं मांगता था। तब भीख मांगते उसी त्रिलोचन को देखा कल? साहित्य में बहुत से ऐसे अकिंचन थे जिनके अंदर मांगने का संकोच था ही नहीं। वहां अगर ऐसों का नाम देकर कविता लिखता तो असम्मानजनक होता। तो वहां मैंने त्रिलोचन दे दिया। अब तुलसी या सूर को देखिए। 'मो सम कौन कुटिल खल कामी।' कोई सबूत नहीं मिलता, पर खल भी कहा है, कुटिल भी और कामी भी।

• शमशेरजी ने एक बार कहा था कि मैंने उर्दू और थोड़ी फ़ारसी तो सीखी पर संस्कृत नहीं सीख पाया, इसका अफ़सोस है। आप तो बहुभाषाविद् के रूप में भी जाने जाते हैं। क्या कई भाषाएं सीखने से आपकी रचनात्मकता समृद्ध हुई?

त्रिलोचन : अनेक भाषाएं सीखने वाले में अगर रचनात्मक क्षमता है तो वह उस पर बराबर ध्यान देगा। पंतजी के काव्य को देखें तो उस पर ब्रजभाषा का असर कम नहीं है। निराला के यहां भी रीतिकाल के कवियों का असर कम नहीं है, जिसे रामचंद्र शुक्ल प्रिय काव्य तो कहते हैं, पर उसे महत् नहीं मानते। ब्रजभाषा आज लिखी कम जा रही है और स्कूलों-कॉलेजों में जो पढ़ाई जा रही है, उसमें व्याकरण पढ़ाते ही नहीं हैं अध्यापक लोग। इसीलिए छात्रों का पढ़ना उस कविता में निहित सौंदर्य पाये बिना काव्य पढ़ना है और वह बोरियत का काम है।

तो सवाल यह है कि अतीत जो है वह किसी भी रचनाकार को वर्तमान करना पड़ता है। अनेक भाषाएं आप सीख रहे हैं तो उन भाषाओं का इतिहास, भूगोल, पुराकथाएं और तमाम मुहावरे, स्थितियां और भाषा की प्रकृति भी समझ में आ जाये। पर कई भाषाएं सीखने पर यह दावा करने का किसी को हक़ नहीं कि मैं इतनी भाषाएं जानता हूं। यह चीज़ रचनात्मकता में कुछ जोड़ती नहीं है; जोड़ती है यह चीज़ कि रचनाकार की सूझबूझ अपनी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भी है और समवर्ती रचनाकारों से वह कितना अलग है। मैंने आपसे बहुत पहले कहा था कि पहाड़ी परिवेश के बारे में हिंदी पाठक बहुत कम जानते हैं या नहीं जानते हैं। आप अगर उसे अपने काव्य का विषय बनायेंगे तो लोग बिना पहाड़ पर गये भी उसे बार-बार पढ़ेंगे क्योंकि वह नये आस्वाद को देने वाली भावना होगी।

• **तुलसीदास का तो आपने विशद अध्ययन किया है...**

त्रिलोचन : यही नहीं, मैंने अंग्रेज़ी के जैसे एलियट हैं, एज़रा पाउंड हैं, इन सबको पढ़ा है। याद रखिए हमारी आधुनिकता यूरोपीय आधुनिकता न होगी। भारतीय आधुनिकता ही होगी। और कोई रचनाकार तब बड़ा होता है जब वह अपने पात्रों का वैसा उपस्थापन करता है रचना में जैसे वे हैं — चाहे वे गिरी हुई मानसिकता और आर्थिक स्थिति के हों या उत्कृष्ट मानसिकता के। इसी परिवेश के कारण कोई रचनाकार बड़ा कहलाता है। नैतिकता का जो आदर्श वाल्मीकि के यहां है उससे ज़रा भिन्न नैतिकता महाभारत की है। महाभारत में सत्य पर तो बल है लेकिन असत्य का आश्रय कम नहीं है। वाल्मीकि में ऐसा नहीं आया है: 'रामो: दुर्नाविभापते।' राम दो नहीं कहते, एक कहते हैं।

तो ये सब हमारे पुरखे हैं। हमारे पुरखे सिर्फ़ यही थोड़े हैं। इंग्लैंड में भी हैं, फ्रांस में भी हैं, इटली में हैं, अरब में भी हैं। जो हमसे पूर्ववर्त्ती हैं चाहे जिस भाषा के हों, हम उनसे सीख सकते हैं। नक़ल करेंगे तो केवल विचार की होगी। अन्य भाषा का अनुवाद जो होगा वह विचारात्मक हो जायेगा। सौंदर्य संबंधी जो उपादान वहां है, भाषा और परिवेश के कारण हैं। वे आप नहीं ले सकेंगे।

• **आपकी कविताओं में देहात के लोगों का जीवन और प्रकृति और बच्चों की उपस्थिति बहुत सघन रूप से है। लोगों की ग़रीबी को भी आप वस्तुपरक ढंग से आत्मदया या अतिभावुकता पैदा किये बिना उभारते हैं। चित्रा जांबोरकर नाम की बच्ची आपकी एक कविता में कवि के अकेलेपन और अवसाद को किस तरह तोड़कर आनंद और संतोष का एक गहरा क्षण दे जाती है — वह आश्चर्यजनक है। आपकी कविता इन तीन विषयों से बाहर नहीं जाती।**

त्रिलोचन : यह दुनिया ऐसी ही है। जैसे देहात में आप हैं जहां बिजली नहीं है। तो मिट्टी का दिया जलाकर उसके उजाले में जो वस्तुएं दिखती हैं उन्हें देखते हैं। भाषा यही तो काम करती है। मैं जो भी जीवन पकड़ता हूं — चाहे गांव का हो चाहे शहर का — उसमें अपने को रखकर देखता हूं। शहर का एक चरित्र है 'दिगंत' में — 'भीख मांग कर जीता है वह बंगाली।' वह पहले संपन्न था, फिर ढल गया। तो उसकी हालत में मैंने अपने को डालकर देखा। कलकत्ते में जाइए और निम्नमध्यवर्ग के बंगालियों के मुहल्ले में रहिए तो आपको मालूम होगा कि ग़रीबी और अभाव क्या है। लेकिन असह्यता में कविता नहीं होती। कुछ सह्यता होती है, कुछ अलगाव जब होता है तब कविता बनती है। विषय से अनुराग भी और विराग भी — दोनों साथ चाहिए।

• **अच्छा, कई बार आपने कहा कि आज लिखी-बोली जा रही ज़्यादातर हिंदी सही नहीं है। उसका विन्यास हिंदी की मूल प्रकृति का नहीं है। ऐसा लगने के क्या कारण हैं?**

त्रिलोचन: हां, 'जैसे मैं अनुरोध करूंगा कि आप अब इस विषय पर अपने विचार प्रकट

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

करेंगे।' अनुरोध करूंगा वादा है, अनुरोध नहीं है। होना चाहिए 'मेरा अनुरोध है' या 'मेरा कहना है कि आप इस विषय पर बोलें।' यह हिंदी है। लेकिन 'आई वुड लाइक टु रिक्वेस्ट' का यह फूहड़ अनुवाद है। असल में अनुवाद के कारण भाषा में बड़ी गड़बड़ियां आती हैं। जैसे बंगला का 'विद्रूप' है। 'विद्' माने ज्ञान और 'रूप' माने आकार। यहां व्यंग्य का कोई भाव नहीं है। लेकिन विद्रूप चल रहा है। अगर कोई मज़ाक़ कर दे या कोई लगने वाली बात कह दे तो लोग कहते हैं कि आप विद्रूप कर रहे हैं। हिंदी में बढ़िया शब्द है 'निरूपण' यानी हूबहू जैसा है वैसा चित्रण। और विकृत, छोटा या बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करना, यह 'विरूपण' है। विद्रूप की जगह विरूपण होना चाहिए।

• हमारे समाज में कवि और कविता की स्थिति को आप किस तरह से देखते हैं? क्या वह विडंबना-भरी नहीं लगती?

त्रिलोचन : मेरा यह कहना है कि कविता को समझने और सराहने वाले पहले भी कम ही थे। भूतकाल के सभी युगों में। कालिदास को उनके युग में ललकारने वाले लोगों की कमी नहीं रही होगी। तभी उन्होंने कहा है: 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्'...और फिर आज का युग तो गद्य का युग है। जो कवि चाहता है कि उसकी कविता पर ध्यान दिया जाये उसे समर्थ गद्यकार होना होगा। आधुनिक काल में महादेवी और निराला ने कम गेय गीत नहीं लिखे हैं, पर शास्त्रीय संगीत वाले कबीर, सूर, तुलसी, मीरा को ही गाते हैं। असल बात यह है कि हम अपने को अधूरा न समझें, जहां हैं वहां जुड़े रहें। कविता की भी अपनी एक उम्र होती है। आज कालिदास को कितने लोग जानते-समझते हैं? रामचरितमानस अवधी में होने के बावजूद एक समय काबुल-पेशावर तक पढ़ा जाता था। एक दिन लोग मानस को भी पढ़ना कम कर देंगे।

• अच्छा त्रिलोचनजी, आपके बारे में हिंदी में कई कहानियां प्रचलित हैं जो अतिरंजनाएं लगती हैं। मसलन, आप हफ़्तों तक शहतूत खाकर गुज़ारा करते रहे, आप बनारस में गंगा को पूरा तैर कर पार कर लेते थे, तनख़्वाह का सारा पैसा किताबों पर ख़र्च कर डालते थे, या आप बहुत ज़्यादा भोजन करते रहे। यह सब सुनकर आप महाभारत काल के किसी चरित्र की तरह लगते हैं। इनमें कितना सच है?

त्रिलोचन : बढ़ा-चढ़ा तो लोग देते ही हैं। सुनी हुई बातों में लोगों को मज़ा आता है जब कुछ जोड़ते भी हैं। मेरा जीवन बीहड़ तो कुछ ज़रूर रहा।

• पचहत्तर साल पूरे करते हुए आपको कैसा लग रहा है?

त्रिलोचन : यह सवाल अच्छा है क्योंकि इसका जवाब बहुत सरल है। मुझे यह भान भी नहीं है कि पचहत्तर साल पूरे कर गया हूं। अनुभूति तो यह बताती है कि युवावस्था मेरी अभी है। कारण यह है कि आपका अनुभव अगर बराबर विकास की ओर चलते हुए परिवर्तनशील रहे तो अवस्था बढ़ने का भान नहीं होगा। मेरी अवस्था ऐसी है।

1992
पचहतरवीं वर्षगांठ पर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

स्मृति, विचार, मनुष्य और कविता

रघुवीर सहाय से बातचीत

रघुवीर सहाय की कविता के साथ हिंदी कविता का इतिहास और स्वरूप दोनों बदलते हैं। उनकी हर नयी कविता पढ़ते हुए पहला एहसास यह होता है कि यह अनुभव इससे पहले इस रूप में अभिव्यक्त नहीं हुआ था। उनकी कविता मनुष्य, समाज और उनके व्यक्तिगत और सामाजिक-राजनैतिक संबंधों की गहरी पड़ताल करने वाली कविता है जो यह बताती है कि व्यक्ति का सामाजिक यथार्थ कितना व्यापक और बहुआयामी हो सकता है। और यह भी कि उस यथार्थ के बरक्स कोई दूसरा और ज़्यादा मानवीय यथार्थ भी संभव है। रघुवीर सहाय की कविता इस अर्थ में भी अद्वितीय है कि वह अनुभवों की एक बड़ी दुनिया और बहुत अधिक चीज़ों में जाती है और उन्हें एक साथ एक संश्लिष्ट और समग्र मानवीय अनुभव में बदल देती है। इसीलिए रघुवीर सहाय गद्य, पद्य, कहानी, निबंध जैसी अलग-अलग कोटियां नहीं मानते और उनकी अद्भुत कहानियां भी उनकी कविता से ही जुड़ी हुई दिखती हैं। कविता और गद्य में एक अद्वितीय शैलीकार होने के अलावा उनका एक पत्रकार रूप भी रहा है और 'दिनमान' साप्ताहिक का संपादन करते हुए उन्होंने रचनात्मक पत्रकारिता के नये प्रतिमान बनाये और उनके पत्र ने अनेक प्रतिभाओं को सामने लाने का काम किया।

रघुवीर सहाय के साठवें जन्मदिन (9 दिसंबर) से कुछ दिन पहले उनसे हुई बातचीत के अंश :

• आप साठ साल पूरे कर रहे हैं और आपका नया संग्रह 'कुछ पते कुछ चिट्ठियां' अभी आया है। इसे आप अपनी रचना यात्रा का एक और पड़ाव मानते हैं या किसी मंज़िल पर पहुंचने की संतुष्टि अनुभव करते हैं? क्या इसमें यह एहसास भी शामिल है कि अब आप वृद्ध हो रहे हैं?

रघुवीर सहाय : यह एक पड़ाव ज़रूर है। इसलिए कि मैंने इसी तरह से अपने अब तक के जीवन को देखा है। यानी समय-समय पर अपने को पीछे मुड़कर देखना। इसी को मैं पड़ाव मानता हूं। क्योंकि एक बार अपने को देख लेने के बाद फिर अपने आपको न बदलना संभव नहीं रहता। इस मानी में यह संग्रह एक शुद्ध पड़ाव है क्योंकि मुझे साफ़ दिख रहा है कि इस संग्रह को बनाने के सिलसिले में मैंने बहुत कुछ आगे का काम देख लिया है। और मेरी अगली रचना-यात्रा अधिक जटिल रास्तों से होगी। इसमें कहीं यानी किसी मंज़िल पर पहुंचने का भाव नहीं है। यह मेरे पूरे व्यक्तित्व से बाहर है। भाषा, रचना,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

समाज की समझ आदि के रूप में मुझे ज़िंदगी जीने के जो साधन मिले हैं उन साधनों की प्रकृति में ही कोई मंज़िल फ़तह कर लेने जैसी भावना शामिल नहीं हो सकती। जो अभी करना है उसकी समझ ही वह एकमात्र उपलब्धि है जो किसी एक काम को पूरा करने पर होती है। जब कोई काम पूरा होता है तो यह मालूम नहीं होता कि क्या पूरा हो गया, बल्कि यह मालूम होता है कि क्या अधूरा रह गया।

वृद्ध मैं इस मानी में नहीं हूं कि मैं अपने प्रति आत्मदया की भावना रखने लगूं। यह अभी तक तो नहीं हुआ है। हां, यह ज़रूर होता जा रहा है कि एक तरह के अकेलेपन का बोध पहले से ज़्यादा आयामों को अपने साथ लेता आया है। उसके आयाम पहले से ज़्यादा प्रकट हो रहे हैं। 1953 की लिखी हुई मेरी एक कविता है : 'क्योंकि मेरा एक और जीवन है और उसमें मैं अकेला हूं।' तब अकेलेपन का जो आयाम मेरे जीवन में था उसमें रचनाकार के निर्वैयक्तिक होने की प्रतीति थी। मैं जो अनुभव करता हूं उसे तभी लिख पाता हूं जब उस अनुभव से अपने को अकेला कर लेता हूं। इसीलिए मैं कहता हूं कि 'रूखी रोटी खाऊंगा ठंढा पानी पीऊंगा और इसी नगरी में रहूंगा क्योंकि मेरा एक और जीवन है।' पर अब धीरे-धीरे मैं यह जान पा रहा हूं कि अकेलेपन के और भी आयाम हैं। और मैं वृद्ध इस मानी में हुआ हूं कि मैं उन आयामों को पहचानते-पहचानते वृद्ध हुआ हूं। कविता के एक-एक चरण में मैंने इस बड़े होने की जटिलताओं को थोड़ा बहुत पहचाना है। जैसे प्रेम का अनुभव है जो कि एक आदिम अनुभव है और इसे लेकर हम वृद्ध होते हैं तो इसके अनेक आयाम निकलते हैं जो कहीं न कहीं शायद मेरी कविता में हैं। इसी तरह सत्ता और शक्ति के केंद्रों के साथ अपने सामाजिक संबंध के भी आयाम हैं। उन सबमें अकेलेपन का भाव बढ़ता ही गया, पर कितना भी बढ़े, यह आत्मदया की ओर नहीं जाता, अपने से बाहर की ओर, समाज की ओर जाता है। इस संग्रह का नाम इसी पड़ाव या परिणति का द्योतक है कि मुझे और अधिक लोगों तक पहुंचना है। ये कविताएं उन लोगों के पते भी हैं और उनके नाम चिट्ठियां भी।

• **नये संग्रह के शुरू में आपने कहा है कि मानवीय अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले अपनी हर लड़ाई में उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति करते हुए दिख रहे हैं जिनके विरुद्ध संघर्ष है। इस हताशा में एक पूरे दौर की बड़ी आशाओं के पूरा न होने की पीड़ा दिखती है। क्या मनुष्य और समाज की सभी लड़ाइयां निरर्थक हैं?**

र. स : निरर्थक नहीं रही हैं। मैंने यही कहा है कि अगर हम अपनी लड़ाई के हथियार नहीं बनाते हैं तो हम उन्हीं हथियारों से लड़ते पाये जाते हैं जो कि हमारे प्रतिकूल तत्त्वों ने अपने उद्देश्यों से बनाये थे। जब हम उनके हथियारों से अपनी लड़ाई लड़ने की ग़लती करते हैं तो उन हथियारों के तर्क से उन्हीं के अभीष्ट परिणामों को पूरा कर रहे होते हैं। यही पिछले राजनैतिक-सांस्कृतिक दौरों में हुआ है कि हम अपने हथियार नहीं बना पाये। लेकिन इसमें भी हताशा, कोई आत्यंतिक निराशा नहीं है, सिर्फ़ बार-बार हुई अपनी पराजयों का विश्लेषण है। यह संपूर्ण हार नहीं है, इसका एक प्रमाण यही है कि मैंने संग्रह में यह भी कहा है कि हमें उन लोगों तक पहुंचना चाहिए जिनसे हम समाज की, और एक नये समाज

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

की समझ के साथ-साथ बदलने के हथियारों की समझ को भी हासिल करते हैं। जब हमने पाया कि सत्ता के तंत्र ने बहुत से रचनात्मक माध्यमों पर क़ब्ज़ा कर लिया है और उन्हें वह अपने तरीक़े से इस्तेमाल करता है तो हमने कहा कि हम उन्हीं तरीक़ों से रचना कर लेंगे। इसका नतीजा यह मिला कि हमने उनका काम कर दिया। वे समाज को तोड़ रहे थे तो हमने भी इस भ्रांति में तोड़ा कि हम बना रहे हैं। एक मोटी मिसाल देता हूं। इमरजेंसी जैसे अत्यंत अमानुषिक अत्याचार के बाद जनता की आकांक्षाओं ने उसे पलटा तो हमने फिर उन्हीं तरीक़ों से काम करना शुरू किया जो इमरजेंसी लगाने वालों के तरीक़े थे। नतीजा यह है कि आज इमरजेंसी नाम की घोषित चीज़ नहीं है, पर चारों ओर इमरजेंसी ही इमरजेंसी है। सेंसर पूरे समाज में हर सत्ता-केंद्र कर रहा है, हालांकि सरकार उसका घोषित रूप से इस्तेमाल नहीं करती। यह दूसरों के हथियारों से लड़ने का ही परिणाम है।

मैं यह मानता हूं कि समतामूलक समाज सिर्फ़ कविता लिखने से नहीं बनेगा, उस समाज के तमाम स्तरों पर नये माध्यमों और नये प्रतिमानों के प्रकट होने से बनेगा। कर्म के जितने मानवीय स्तर हैं — संस्कृति, इतिहास, उद्योग, अर्थव्यवस्था — जब तक उनमें बदलाव नहीं आता, समाज नहीं बदलता। कविता तो सिर्फ़ एक साधन है। राजनीति भी उतना ही बड़ा माध्यम है। राजनीति की जो समझ साहित्य और राजनीति को अलग-अलग रखने वालों ने बना ली है वह यह है कि राजनीति तो सिर्फ़ कुर्सी को बदलने का साधन है, जबकि राजनीति तमाम मानवीय संबंधों में बदलने का साधन है। मैं साहित्य के लिए अच्छी राजनीति को बहुत ज़रूरी समझता हूं और साहित्य अकेले कोई चीज़ नहीं है जब तक कि राजनीति मानवीय संबंधों को बदलने के लिए सत्ता के मार्ग से उपलब्ध साधनों को नये समाज के लिए हासिल नहीं करती।

- **आपकी एक कविता में एक स्त्री 'दिन भर वह सब जोड़ कर रखती है जो दिन भर महामंत्री ने तोड़ा है देश में।' समाज और मानव मूल्यों को बचाने की कविता की ताक़त पर यह विश्वास आपकी कविता की बड़ी शक्ति रही है। कविता किन-किन रूपों में बचाने का काम कर सकती है?**

र.स : विश्वास तो है पर कविता कोई एक-आयामी काम नहीं है। ख़ाली देशप्रेम की कविता लिखने से देशप्रेम पैदा नहीं हो जाता। देश के तमाम लोगों की एक दूसरे से हिस्सेदारी बनाने से देशप्रेम पैदा हो सकता है। यह काम केवल कविता नहीं कर सकती। यह समाज का प्रबंध करने वाली जो शक्ति है, वह जनप्रतिनिधित्व का रचनात्मक इस्तेमाल करके साथ-साथ करती है। लेकिन कविता कोई पूरक नहीं, बल्कि समांतर यानी सहजीवी कार्रवाई है। कविता की अपनी शक्ति यही है कि वह पूरक और अनुयायी शक्ति बनने से इनकार करती है। वह एक स्वतंत्र संस्था है, जिसके सह-जीवन की शर्तें भी वह ख़ुद बनाती है। अगर वह किसी मूल्य को सत्य नहीं मानती तो वह अपने द्वारा बनाये मूल्य घोषित करती है और उसके सहजीवी तत्त्व यानी राजनीति को या तो मानना पड़ता है या कहना पड़ता है कि हम इससे सहमत नहीं हैं। यथार्थ का विकल्प बताना कविता के लिए आवश्यक है वरना वह कविता ही नहीं है। कविता को पूरा अधिकार है कि वह एक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विकल्प को बताने पर उसे न मानने वालों से बहस करे या उसका विरोध करे। अगर राजनीति यह कहे कि इस देश में सर्वसत्तावाद यानी तानाशाही होनी चाहिए तो इस मूल्य से कविता सहमत नहीं होगी। यह कविता का दिया हुआ विकल्प नहीं है। तानाशाही में क्योंकि कविता नहीं हो सकती इसलिए कविता तानाशाही का विरोध करेगी।

जितने शक्ति केंद्र हैं वे कविता के ख़िलाफ़ भी काम कर सकते हैं। कविता के, आज़ादी और रचनात्मकता के जो मूल्य हैं वे शक्ति केंद्रों को पसंद नहीं भी आ सकते, हालांकि कुछ दौरों में आते भी हैं। जब नहीं आते हैं तो कविता को सहजीवी होने की शर्त तोड़कर अपनी स्वतंत्र सत्ता के अनुसार अकेले आचरण करना होता है। सत्ता और वाणी का संघर्ष हमेशा रहता है, क्योंकि वाणी जिस तरह सत्य को बताती है वह सत्ता के बताये सत्य के विरुद्ध हो सकता है।

• आपने कविता के भावुक या भावनात्मक रूपों का बहुत कम इस्तेमाल किया है। लगता है आप सभी अनुभवों को सामाजिक चिंतक के रूप में देखते हैं। भावना और आवेश वाली कविता से आपको परहेज़-सा क्यों रहा है?

र. स : रहा तो है। मैं प्रतीकों, बिंबों और उपमाओं के ख़िलाफ़ हूं। इसलिए कि उपमाएं केवल एक तथ्य और दूसरे तथ्य की उपमा नहीं होतीं, वे एक मूल्य और दूसरे मूल्य की उपमा हो जाती हैं। इनमें से एक मूल्य समाज-विरोधी भी हो सकता है। इसलिए उपमा का इस्तेमाल हमेशा भ्रामक होगा। प्रतीक भी केवल एक प्रकट यथार्थ का प्रतीक नहीं होता, बल्कि एक संस्कार का प्रतीक बन जाता है। वह यथार्थ की पहचान को तोड़-मरोड़ कर उसे मेरे ऊपर लाद देता है। जब मैं कहता हूं कि 'मैं दवाख़ाने में अपने बच्चों को लिये हुए खड़ा हूं' तो मेरे और मेरे बच्चों के उस यथार्थ में खड़े होने की जो असलियत है उसे मेरे पाठक या श्रोता को समझना होगा। अगर वह उनको किसी एक बड़ी भारी वायवीय मानवीय परिस्थिति का प्रतीक मान लेता है तो इससे मेरी कविता नष्ट हो जाती है क्योंकि वह कविता उन बच्चों के शरीर में से होकर जा रही है। इसलिए मैंने एक कविता में लिखा है कि 'प्रिय पाठक ये मेरे बच्चे हैं कोई प्रतीक नहीं।' इस यथार्थ को पहचानने के लिए आपको प्रतीकों से मुक्त होना पड़ेगा जो कि हिंदी कविता के लंबे दौर ने पाठक की संवेदना पर लाद दिये हैं।

हां, कविता में एक रेटरिक मैंने बनाया है जो कि उस ख़ास कविता के लिए ज़रूरी था जिसके लिए वह बनाया गया। आवेग को मैं कविता-विरोधी वस्तु नहीं मानता, लेकिन वृथाभावुकता को मानता हूं। वृथाभावुकता आपको यथार्थ के साथ कोई रिश्ता बनाने नहीं देती। हम किसी आदमी को शारीरिक कष्ट में पायें और अगर इस दर्द को बताते समय इतने वृथा भावुक हो जायें तो हम उस दर्द को नहीं अपने सब दर्द बता रहे होंगे जो कि उसको नहीं हैं। यह यथार्थ मेरी समझ के विपरीत है और मेरी कविता के सामाजिक संप्रेषण में भी बाधक है क्योंकि उससे किसी को कोई शक्ति नहीं मिलती। दुख को, अपराध को, पाप को ऐसे बताना जैसे कि वह शाश्वत और अनिवार्य हो, समाज-विरोधी है। जैसे आज यह कहना कि हर आदमी भ्रष्ट है और हिंसा ही एक रास्ता है जिसे सब

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अपना रहे हैं, घोर असत्य है क्योंकि अगर एक आदमी भी ऐसा है जो भ्रष्ट नहीं है तो सत्य यह है कि सब लोग भ्रष्ट नहीं हैं। भावुक होना तो अत्यंत ज़रूरी है। भावुक होने का अर्थ है संवेदना का होना, जिसके बग़ैर कविता संभव नही है। 'बच्चा गोद में लिये/ बस में चढ़ती स्त्री / और मुझमें कुछ दूर तक घिसटता जाता हुआ' ...यह कविता बिना भावना के नहीं लिखी जा सकती। लेकिन इसमें वृथाभावुकता नहीं है क्योंकि इसमें मेरे कोई दुख उस स्त्री पर आरोपित नहीं हैं।

- **क्या आप अपने सारे लेखन को उद्देश्यपरक मानते हैं? उसका उद्देश्य क्या है? क्या इसके बिना अच्छा साहित्य संभव नहीं है?**

र. स : उद्देश्यपरकता? हां, एक नये समाज की समझ बनाना मेरा उद्देश्य रहा है और यह भी कि उसे बनाने के साधन क्या हो सकते हैं। इस उद्देश्य के लिए समाज के घटकों के परस्पर संबंध, भूगोल, इतिहास, प्रकृति से उत्पादन कर्म के संबंध और उत्पादन के साधन पर लोकतंत्रीय नियंत्रण से लेकर अनुभवों की संवेदनशीलता तक में परिवर्तन करना मेरा उद्देश्य है। कविता मेरे पाठक को अगर दूसरे मनुष्य के साथ अपनी संवेदना के रिश्ते सुधारने की समझ देती है तो वह समाज को बदलने की समझ ही है।

अपने अनुभव को सामाजिक आयाम में ले जाये बग़ैर मैं उसे बताने योग्य अनुभव नहीं मानता। हमारी भाषा के प्रबंधकों ने एक बड़ी भ्रांति यह फैला रखी है कि व्यक्तिगत अनुभव और सामाजिक अनुभव, भोगा हुआ यथार्थ और बग़ैर भोगा हुआ यथार्थ जैसी इकाइयां होती हैं। ख़ासकर साहित्य के क्षेत्र में ये धारणाएं बहुत प्रचलित कर दी गयी हैं। जब कोई व्यक्ति कहता है कि मुझे दुख है तो उसे एक व्यक्तिगत दुख मान लिया जाता है कि यह तो सामाजिक दुख नहीं है। पर कौन-सा दुख ऐसा है जो सामाजिक नहीं है? या तो उसके कारण या उसके परिणाम सामाजिक ही हैं।

- **आपकी एक पुरानी कविता की पंक्ति है: 'अब काम हमारे आती हैं अपनी ये पिछली कविताएं।' आपकी रचना यात्रा में पिछली रचनाओं की ओर लौटना किन-किन स्तरों पर हुआ है? क्या कभी आप अपनी पुरानी कविताएं भी पढ़ते हैं?**

र. स : इसका उत्तर उसी कविता से देता हूं जो कि उस समय दिया गया उत्तर है: 'जिस सच को हमने खोजा था/ अपने थोड़े से अनुभव में/ कुछ और ज़िंदगी भी आये/ उस एक सचाई की रौ में/ आगे भी राह दिखाती हैं/ ये अपनी पिछली कविताएं।'

इसी कविता के शेषांश में आप पायेंगे कि ज़िंदगी को आगे जीते जाने के लिए वह कला-संस्कार ज़रूरी है जिसमें से गुज़रकर एक पड़ाव में कुछ पाया गया। इस नाते शिल्प, भाषा और भाषा के सामाजिक आयाम ये सब पिछली कविताओं से अगले दौर के लिए उपलब्ध होते हैं। मगर तभी होते हैं जब जिस सच्चाई की रौ में हम पिछले पड़ाव तक पहुंचे हैं उससे ज़्यादा बड़ी सच्चाई की खोज में बढ़ें ताकि उसके बाद के पड़ाव तक पहुंच सकें जहां शिल्प, भाषा और उसके दूसरे आयाम फिर एक नया रूप पायेंगे। इसीलिए मेरी पिछली कविताएं हमेशा मेरे साथ हैं और मेरी कोई कविता ऐसी नहीं है जिसका मैं यह

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कहकर परित्याग करूं कि यह मेरी न मानी जाये। यह मैं इसलिए कह रहा हूं कि हमारी पीढ़ी के बहुत से कवियों ने कहा है कि फ़लां रचना को मैं 'डिसओन' करता हूं ।

मैं अपनी पुरानी कविताएं पढ़ता हूं, लेकिन यह भी मानता हूं कि कविता अपने साथ भाषा और शिल्प की एक ज़रूरत पैदा करती है जो सिर्फ़ उस कविता को लिखने के लिए ज़रूरी है। उसके लिखे जाते ही वह ज़रूरत ख़त्म हो जाती है और कविता के लिए एक नयी ज़रूरत पैदा होने की वजह पैदा होती है। जब मैं कहता हूं कि कविता लिखी जाते ही मर जाती है तो इसी अर्थ में कि उसके उपकरण काम आ गये और अब उन्हीं उपकरणों से कोई दूसरी कविता नहीं लिखी जा सकती। अपनी किसी पुरानी कविता को पढ़ते हुए मैं अपने विकास के किसी एक क्षण को एक दस्तावेज़ के रूप में पढ़ रहा होता हूं । लेकिन क्योंकि मैं भी उस समाज का एक हिस्सा हूं जिसमें से मेरी कविता निकली है इसलिए अपने दस्तावेज़ को देखना मेरे लिए समाज को दोबारा देखने के बराबर है। अपनी कविताओं को पढ़ते हुए मैं एक साथ दो काम कर रहा हूं : एक तो अपनी रचनाप्रक्रिया के दस्तावेज़ को परख रहा होता हूं और दूसरे, समाज की अपनी समझ को परख रहा होता हूं। कभी-कभी यह होता है कि समाज की और मेरी समझ उस पिछली कविता के क्षण से आगे पहुंच चुकी होती है तो मैं अपनी कमियों को भी परख रहा होता हूं। तीनों हालात में अपनी पिछली कविता पढ़ना एक लाभकारी अनुभव है। यह तो ज़ाहिर है कि उनमें किसी एक पर टिक करके उसके आधार पर कविता लिखना अतार्किक है। मैं अपनी किसी पुरानी कविता को सामने रखकर उसकी अनुकृति करना ग़ैर-रचनात्मक और असंभव मानता हूं ।

• आपने कभी कहा था कि लेखक को भाषा के अधिक से अधिक मोर्चों पर सक्रिय रहना चाहिए। पर इधर आपने कहानियां प्रायः नहीं लिखीं। क्यों ? क्या कभी उपन्यास लिखने का मन हुआ ?

र. स : उपन्यास लिखने का मन हुआ है, नाटक लिखने का भी हुआ है। कहानियां अब भी लिखने की इच्छा बीच-बीच में होती है। अधिक से अधिक मोर्चों पर लिखते रहने की बात मैंने कही थी, पर उसी लेख में यह भी कहा था कि भाषा की इन तमाम विधाओं में एक अजब तरह का अंतरावलंबन निहित है। मेरे साथ एक विधा में कुछ लिखते हुए थोड़ी देर बाद उसे छोड़कर उसी को दूसरी विधा में लिखने की स्थिति बार-बार बनती रहती है। कहानी शुरू की, लेकिन आधे में छोड़कर उसे निबंध कर दिया या कि नाटक लिखना शुरू किया और आधे में छोड़कर उसकी जगह कविता लिख दी। मैं इन सबको एक दूसरे में परिवर्तित हो जाने वाली विधा मानता हूं। इन दिनों कहानी लिखने का मन होते हुए भी बहुधा मैंने जो चीज़ मुझे कहानी दे रही थी उसको निबंध या कविता के रूप में लिख दिया। अब भी कहीं मेरे मन में यह इच्छा है कि मैं कविताओं में कहानियां लिखूं। शायद मेरा अगला पड़ाव वहीं पर होगा। 'लोग भूल गये हैं' नामक संग्रह में ऐसी कम से कम दो-तीन कविताएं हैं। यह बिलकुल संभव था कि 'सीढ़ियों पर धूप' की कई कहानियों को मैं कहानियों के रूप में नहीं लिखता।

आजकल जब मैं निबंध पर ज़ोर देता हूं तो भी मुझे कभी लगता है यह तो एक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कविता हो सकती है या एक कहानी हो सकती है। दरअसल जिस समय वह सारा यथार्थ संपूर्णता की शक्ल ले रहा होता है और उसकी शक्ल दिख जाती है उस समय उसका जो रूप है वह उसका अंतिम रूप भी हो जाता है। उसकी पूरी शक्ल कविता के रूप में निकल सकती थी। मगर नहीं निकली तो यथार्थ को समझने के मेरे जो साधन थे या मानवीय अनुभव में जो गहराई होनी चाहिए थी, उसकी न्यूनता भी एक कारण हो सकता है। पर इन कारणों को खोजने लगने से ज़्यादा ईमानदार बात यह है कि जिस विधा से वह संपूर्ण सत्य दिख रहा है उसी में लिख दिया जाये, चाहे वह कविता हो या गद्य हो। फिर मुझे यह संस्थागत विशेषीकरण भी पसंद नहीं है कि आप कवि हैं या कहानीकार हैं या कुछ और हैं। मैं मानता हूं कि ये सभी विधाएं एक दूसरे में आती-जाती रहती हैं।

• समाज में आप कविता की क्या स्थिति देखते हैं ? यह धारणा आज प्रबल है कि समाज में कविता की जगह और ज़रूरत लगातार कम हो रही है।

र. स : यह धारणा किन लोगों ने बनायी है और कौन इसे प्रबल कर रहा है ? ये वही तत्त्व हैं जो हर तरह की रचना के ख़िलाफ़ हैं। अपनी राजनैतिक-सामाजिक विचारधारा से प्रेरित होकर ये तत्त्व एक स्वतंत्र व्यक्ति को नष्ट करने पर तुले हैं और यह इन्हीं का प्रचार है कि समाज में कविता की जगह नहीं है। इनकी भाषा में इसका दूसरा अर्थ यह है कि कविता करने में भूखों मरना पड़ेगा और इसका उलट यह है कि ऐश करना है तो कविता मत करो। यानी उस सच को मत दिखाओ जिसको बिकने योग्य बनाकर हम अर्थात् पैसे और सत्ता के तंत्र में बैठे ये राजनीतिक-सामाजिक तत्व इस्तेमाल में न ला पायें। अगर तुम सत्य को इस तरह दिखा सकते हो कि हम उसका इस्तेमाल कर लें तो वह कविता नहीं हो सकती, या फिर बहुत घटिया कविता हो सकती है, और वैसी कविता ख़ूब लिखो और हम उसे ख़ूब प्रचारित करेंगे। यह है इस कथन की असलियत कि कविता की समाज में ज़रूरत नहीं है। असल में वे यह कह रहे हैं कि कविता जैसी किसी घटिया चीज़ की तो बहुत ज़रूरत है, क्योंकि वह हमें बहुत फ़ायदेमंद है। आप देख सकते हैं कि कम से कम पिछले दो दशकों में इसी भड़ैंती, हास्यरस और वृथाभावुक विलाप को कविता बताकर खुले आम प्रचारित किया गया। सत्ता और पैसे के माध्यम से जो लोग वाणी पर नियंत्रण रखते हैं वे ऐसी कविता का प्रकाशन नहीं चाहते जो कि लोगों के अंदर आज़ादी की भावना पैदा करे।

• आपकी कविता ने कविता को भी बदला है और अपने बाद की पीढ़ी को भी बहुत प्रभावित किया है। अपने से बाद की कविता के बारे में आप क्या सोचते हैं ? क्या आप नये कवियों को पढ़ते हैं ?

र. स : मेरी कविताओं ने प्रभावित किया है या नहीं, यह मूल्यांकन तो मेरे द्वारा नहीं हो सकता। लेकिन मैं यह देख रहा हूं पिछले दशकों के सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ ने साहित्य और साहित्येतर माध्यमों से नयी पीढ़ी को मानवीय अनुभवों में भी नयी दृष्टि दी है और अनेक नये कवि यथार्थ के बहुत से ऐसे आयामों को पहचानने में सक्षम हुए हैं जो उनके पहले के कवियों में तैयारशुदा या बने-बनाये रूपों में प्रचलित थे। यह जो फ़र्क़ पैदा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हुआ है, वह किसी पूर्ववर्त्ती कवि की रचना से पैदा नहीं हुआ, यथार्थ को पहचानने की व्यापक समझ से पैदा हुआ है जिसमें हो सकता है किसी कवि का योगदान ज़रा ज़्यादा प्रकट हो रहा हो और किसी का कम। मगर यहां एक बात और कहना ज़रूरी है कि भाषा और संचार साधनों पर उस तंत्र का नियंत्रण बढ़ा है, जो अच्छी कविता के विरुद्ध है। इसलिए ऐसे कवि भी उसके द्वारा प्रचारित किये जाने लगे हैं जो नैतिक और राजनीतिक मूल्यों की एक बनावटी शक्ल उस तंत्र के हित में बनाते हैं।

नये कवियों को मैं पढ़ता रहता हूं। बल्कि सन् 68 के बाद की छोटी कविताओं को सहेज कर रखने की योजना मैंने बनायी थी, जिससे कविता के विकास की विश्लेषणात्मक खोज की जा सके। असलियत यह है कि बहुत कविता लिखी जा रही है और वह छोटे शहरों में छप रही है जिसके बारे में हम लोग कम जानते हैं। अपनी ओर से मैं आश्वस्त हूं कि सचमुच अच्छी कविता लिखनेवाले वहीं से निकलेंगे जहां कविता का मूल्यांकन करने वाला तंत्र नहीं है। जैसे विश्वविद्यालय या पाठ्यपुस्तकों का तंत्र या इनके साथ शामिल समालोचकों का तंत्र — वहां से अच्छी कविता नहीं निकलेगी। शायद वह ऐसे लोगों द्वारा लिखी जायेगी जो साहित्य तंत्र द्वारा मान्य नहीं हैं और जिन्हें केवल पाठक माना जाता है। वैसे ही जैसे पत्रकारिता में अच्छे पत्रकार वहीं से निकले जो पत्रकारिता के तंत्र के बाहर थे। वहां से निकलने के बाद उन्हें उस तंत्र ने अपने में शामिल किया।

1989

षष्ठिपूर्ति पर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हर आकार एक जीवन है

विष्णु चिंचालकर से बातचीत

कविता का ख़ाका हमेशा हवा में तैरता रहता है और कोई कवि उसे ज़मीन पर उतारकर ऐसा आकार दे देता है जो मनुष्य के लिए परिचित हो, उसकी समझ में आ सके। पोलैंड के कवि ज़्बीग्नीयेव हेर्बेर्त के ये शब्द इंदौर के गुरुजी यानी विष्णु चिंचालकर के बारे में भी कहे जा सकते हैं। गुरुजी के लिए कला हर समय उपस्थित है — प्रकृति के विभिन्न आकारों में, दीवार पर पड़े बारिश के धब्बों में, टूट-फूट गयी उन चीज़ों में जिन्हें हम कूड़ा समझ कर फेंक देते हैं। सृष्टि का कोई भी आकार उनके लिए कला से बाहर नहीं है और हर चीज़ को कला-रूप मानने का उनका विश्वास जितना गहरा है उतना ही लचीला भी। वे जली हुई रोटी के टुकड़े को इस तरह संयोजित कर देते हैं कि वह एक भावपूर्ण चेहरे में बदल जाता है। कपड़े टांगने का टूटा हुआ हैंगर उनके हाथों में गांधीजी की एक भाव-मुद्रा बन जाता है, प्लाइवुड की छिपटियां चिपकाकर वे एक शहरी दृश्य की रचना कर लेते हैं, पेड़ों की निर्जीव छाल प्लाइवुड पर एक अद्भुत कोलाज का रूप ले लेती है, टूटी हुई चप्पल के तले और घास से बनायी हुई उनकी 'मोनालिसा' तो जैसे क्लासिक का दर्जा पा चुकी है और फटी-पुरानी कमीज़ की बांहों से उन्होंने सलीब पर लटके ईसा मसीह को बनाया था। उसे देखकर डॉ. होमी सेठना ने कहा था कि यही ईसा का सबसे सच्चा रूप है, ईसा संग़मरमर में नहीं चीथड़े में ही निवास करते हैं।

लेकिन गुरुजी अपनी कला के लिए प्रकृति का 'इस्तेमाल' नहीं करते, बल्कि कला की रचना प्रकृति के सहज नियमों के आधार पर करते हैं। उनके लिए हर आकार एक जीवित, प्राकृतिक इकाई है और उसी में वे सारी सृष्टि के आकारों को देख लेते हैं। इंदौर के अपने घर में अपनी बनायी हुई तरह-तरह की आकृतियों की एक विनम्र सृष्टि के बीच पचहत्तर साल के गुरुजी स्वयं प्रकृति के ही एक स्पंदित अंश की तरह दिखते हैं। आकारों से भरा उनका कमरा संग्रहालय नहीं, बल्कि एक लैंडस्केप की तरह लगता है। उनके जैसा सरल, संकोची और अहंकार-रहित कलाकार शायद ही कोई हो, और जब वे बात करना शुरू करते हैं तो रचनात्मक ऊर्जा का एक झरना-सा फूट पड़ता है।

• गुरुजी, आपका काम देखकर पहला ख़याल तो यही आता है कि वह किसी दूसरे की तरह नहीं है। उसकी किसी से तुलना नहीं हो सकती। और आपकी कला भी कोरी कला नहीं, वह एक जीवन-

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दृष्टि, देखने का एक समग्र तरीक़ा लगती है। यह जानने की इच्छा होती है कि आपने किस-किस से क्या-क्या सीखा ?

विष्णु चिंचालकर : किसी भी कला में तीन ख़ास बातें होती हैं: क्या करना है, क्यों करना है और कैसे करना है। मेरे कई गुरु हैं। कभी ऐसा भी होता है कि गुरु को पता नहीं रहता कि शिष्य ने उससे क्या लिया है। अब हमारे दत्तात्रेय हैं जिनका एक गुरु गधा भी है। गधे को क्या पता कि वह दत्तात्रेय को कुछ सिखा रहा है। मैं अब तक सीखता ही आ रहा हूं। वैसे रेगे साहब मेरे गुरु थे। फिर कुमार गंधर्व को भी मैं अपना गुरु मानता हूं।

• आपकी और कुमार गंधर्व की दोस्ती तो पूरे मालवे में मशहूर रही है। कुमारजी से घनिष्ठता और उनके संगीत का आपकी कला पर क्या असर पड़ा ?

चिंचालकर : बहुत पहले मैं भी शास्त्रीय संगीत का विद्यार्थी रहा था। किताबी तौर पर व्याकरण की जानकारी थी। पर संगीत दरअसल क्या है, इसका कुछ पता नहीं था। जब कुमारजी से संबंध हुआ तब अलग अनुभव मिला। कुमारजी ने कई प्रयोग किये और यह बताया कि शास्त्रीय संगीत का उद्‌गम तो लोकसंगीत से ही है। जिन दिनों उनके लिए गाना मना था, उन दिनों भी उनका कलाकार तो जीवित ही था न, सो जब उन्होंने मालवा का संगीत सुना तो उन्हें लगा कि यही तो शास्त्रीय संगीत की कुंजी है। उन्होंने जब लोकसंगीत की खोज की तो हमें भी लगा कि हमारी कला के बीज भी तो इसी तरह कहीं छिपे हैं। फिर हमारी नज़र पोर्ट्रेट पेंटिंग और लैंडस्केप के प्रचलित मुहावरे से हटकर अपने ही आसपास की चीज़ों की ओर गयी।

• प्रकृति और हमारे चारों ओर जो अनगिनत स्वाभाविक आकार फैले हुए हैं, उन्हें पहचानने की आपकी यात्रा क्या तभी से शुरू हुई ?

चिंचालकर : हां, लगा कि हमने जो कुछ सीखा था वह सब पश्चिम से आया हुआ है और हम उस प्रवाह में बह रहे हैं। एक बार कुछ न कुछ करके दिल्ली में अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी में पेंटिंग भेज दी जिसे अवार्ड मिल गया। यानी हम जो करते थे उसे अवार्ड मिल जाता था। पर अवार्ड काहे के लिए मिलता है, इसके बारे में हमें कोई जानकारी नहीं थी। तो मुझे लगा कि यार यह तो अपरिपक्वता है। मन में आया कि हम यह सब पेंटिंग क्यों करते हैं, यही अपन को नहीं मालूम। फिर जब कुमारजी से संपर्क हुआ तो नये ढंग से कुछ करने की अपनी खोजबीन भी शुरू हुई।

दूसरी प्रेरणा भी मुझे कुमारजी से मिली। उनके संगीत में मैं अपने चित्र ढूंढ़ता था। उनका गाना सुनता तो मन में चित्रों के रूप में स्वरों से एसोसिएट करने की कोशिश करता। कुमारजी के स्वर और उनके तानपुरे के स्वर हमेशा एक पूरा सर्कल (वृत्त) बनाते हैं। एक बार प्रदर्शन देते हुए उन्होंने कहा कि सही मानी में राग दो-तीन स्वरों में ही निबद्ध है। उन्हीं के कुछ उलटफेर से राग बदल जाता है। बाक़ी स्वरावलियां तो इसलिए हैं कि वे हैं। तो हमने इन स्वरों को आकारों में देखना शुरू किया।

अब देखिए कि दो ही ख़ास आकार हैं — एक तो सर्कल है और दूसरा है त्रिकोण। स्पेस को उभरी रेखा से घेरें तो वह सर्कल तक जाता है और सीधी रेखा से घेरें

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तो त्रिकोण तक। इसके बाद मुझे लगा कि बिंदु ही सबसे महत्त्वपूर्ण है, उसकी ऊर्जा से ही सर्कल और त्रिकोण निकले हैं। और यही आपकी प्रकृति में, पशुओं में और आसपास की सभी चीज़ों में दिखायी देगा। इनके संयोजन बदल दें तो चीज़ें बदल जायेंगी। यह सूत्र मुझे कुमारजी से मिला। मैंने कुमारजी के जो रेखांकन किये उनमें भी यही बात थी। उनका संयोजन बदल देता तो वह किसी दूसरे संगीतकार का चित्र बन जाता। यानी एक त्रिकोण के बिंदु तो तीन ही हैं, पर उनकी केवल हेराफेरी से हम तमाम आकृतियां बना सकते हैं। भाषा में भी तो जितने अक्षर हैं उनकी हेराफेरी से करोड़ों शब्द बने। संगीत में भी सात स्वरों की मूल सामग्री से, उन्हें थोड़ा इधर-उधर कर देने से अनेक राग बन गये। यानी यह कच्ची सामग्री भले ही थोड़ी-सी हो, पर इसमें पूरी सृष्टि समायी हुई है। यह मैंने कुमारजी से पाया।

एक बार गांधीजी कर्नाटक में थे। काका साहेब कालेलकर के साथ। काका साहब जोग फ़ाल्स देखकर लौटे तो गांधीजी से बोले कि बापू वहां सात सौ फ़ुट की ऊंचाई से जलधारा बह रही है और आप यहां कुटिया में बैठे काम कर रहे हैं। ज़रा प्रकृति की लीला तो देखिए। तो गांधीजी ने कहा कि आप प्रकृति को बांधते क्यों हैं। आप सात सौ फ़ुट की बात करते हैं मैं तो हज़ारों फ़ुट वाली जलधारा का आनंद लेता हूं।

तो हम किसी चीज़ को फ़्रेम में बांधते क्यों हैं ? हमारे पुराने घर की दीवार पर बरसात से बने कुछ छींटे थे। हमने उनके चारों ओर एक फ़्रेम लगा दिया। फ़्रेम में जो आया वह एक चित्र बन गया। फ़्रेम में देखने की जो यह आदत है उसे कैसे तोड़ा जाये यह भी मेरी समस्या थी। फ़्रेम को तोड़कर देखिए तो सब दूर चित्र बने दिखेंगे। हमें उसकी विशालता दिखेगी। इक़बाल का वह शेर है न कि 'सितारों से आगे जहां और भी हैं....' हम सिर्फ़ एक ही सौरमंडल में सिमट कर न रहें।

• एक धारणा यह रही है कि कला प्रकृति की ही अनुकृति है और दूसरी ओर, पिकासो जैसे चित्रकारों का कहना था कि कलाकार प्रकृति के समांतर एक प्रकृति की रचना करता है। इसलिए वह रचनाकार है। आप क्या मानते हैं ?

चिंचालकर : अनुकृति तो हम इस मानी में ज़रूर करते हैं कि जो देखा उसे बनाया, पर मूल चीज़ यह है कि हमने देखे हुए का चिंतन करके क्या पाया। ठीक है, हमने प्रकृति को डिस्टॉर्ट किया, उसे कुछ विरूप किया, पर उस विरूप में से 'क्रियेट' क्या करते हैं ? तो मेरा एप्रोच यही रहा कि दोनों में चीज़ एक ही है। हम चीज़ों को डिस्टॉर्ट करें या डिस्टॉर्टेड चीज़ को फिर से स्वाभाविक चीज़ बनायें। तो उन कलाकारों का प्रवेश उधर से होता है और हमारा प्रवेश इधर से है। यह मुझे बाबा साहेब आमटे से मिला। बाबा साहेब आमटे ने पहली मुलाक़ात में मुझसे कहा कि आप जब एलोरा-अजंता जाते हैं तो वहां भग्न शिल्प मिलते हैं और आप उनकी बड़ी हिफ़ाजत करते हैं, उन्हें बचाते हैं। वहां जो टूटी-बिगड़ी हुई चीज़ें हैं आप उन्हें अपनी कल्पना में पूरा करते हैं और उसका सुंदर रूप देखते हैं। आप उनकी कमी को मन में पूरा कर लेते हैं। पर अगर किसी व्यक्ति को कुष्ठ रोग हो गया तो आपका सौंदर्यबोध यह है कि आप उसे सड़क पर फेंक देते हैं। एक तरफ़ सड़क के किनारे

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पड़ी चीज़ को म्यूज़ियम में प्रस्थापित करते हैं और दूसरी तरफ़ जो जीती-जागती चीज़ विकृत हो गयी है उसे आप फेंक देते हैं। यहां आपका सौंदर्यबोध कहां लुप्त हो गया? बाबा आमटे ने बिना उंगलियों के कुष्ठ रोगियों से जो निर्माण कार्य करवाया उसे कौन नहीं जानता? तो मुझे लगा कि सौंदर्यबोध की सारी परिभाषाएं तोड़ने की ज़रूरत है।

• आपकी सारी कला परिभाषाओं को तोड़कर ही संभव हुई है। आप प्रकृति या परिवेश से जितनी भी चीज़ें लेते हैं उन्हें उनके नियमों से कुछ अलग करके एक नयी चीज़ की रचना करते हैं। प्रकृति की चीज़ों से आप जो बनाते हैं वह सिर्फ़ प्रकृति नहीं होती। इस प्रक्रिया के बारे में कुछ बताइए।

चिंचालकर : यह सिर्फ़ आकारों का खेल है। संगीत भी तो स्वरों का खेल है। हमारा जो दृश्य-रूप है वह भी आकारों का ही कांबीनेशन है। मेरा सरल फ़ॉर्मूला यह रहा कि चित्र मतलब आकारों का खेल। आप खेलते रहिए, चित्र अपने आप बन जायेगा। हर वस्तु एक आकार है सिर्फ़, और ऐसे अनेक आकारों का संयोजन एक नये आकार को बना देता है। आप बच्चों को देखिए। उनकी रचना की प्रक्रिया इसी तरह है। वे चीज़ों से लगातार नयी-नयी आकृतियां बनाते चलेंगे। अगर हमारे पास आकारों का भंडार है तो जितनी अधिक हमारी कल्पना होगी, उतनी ही चीज़ें हमें मिलती जायेंगी। अगर कल्पनाशीलता नहीं है तो वे महज़ टूटी-फूटी चीज़ों से आगे नहीं जा पायेंगी। बंबई में हुसैन ने जो 'श्वेतांबरी' किया था, उसमें कई सारे आकार बने थे पर वे लोगों को दिखे नहीं क्योंकि वे बताये नहीं गये थे। लोगों को बने-बनाये जवाब चाहिए न! जब हम उन आकारों को ब्रश या लाइन वग़ैरह से दिखायेंगे, उन्हें तभी पहचानेंगे। इसलिए कि लोग अपनी निजी कल्पना का इस्तेमाल ही नहीं करते।

1977 में जब मैंने प्रदर्शनी की तब भी यह बात हुई। वहां मैं एक ख़ाली प्लाइवुड ले गया था कि इस पर कोलाज करूंगा। समय नहीं मिला तो मैंने वैसे का वैसा प्लाइवुड टांग दिया। लोग कहते कि यह क्या है। मैंने कहा कि ग़ौर से देखो, कुछ न कुछ तो दिखेगा। उसमें कुछ आकार तो सुप्तावस्था में थे ही। मैंने दर्शकों को उसमें एक बिंदु दिखाया कि यहां से देखो। ठीक ऐसे ही जैसे कुमारजी के संगीत में मुझे वह स्वर दिखता था जो तानपुरे के साथ जुड़कर राग की निर्मिति को पूरा करता था। फिर उन्हें प्लाइवुड में तमाम आकार दिखते चले गये। यानी वे अपेक्षा कर रहे थे कि हमें कुछ दिखाया जाये। होना यह चाहिए था कि आपको जो भी दिख रहा है, वही आपका अनुभव है। यह ज़रूरी नहीं है कि आपका और हमारा सत्य एक ही हो।

• कला देखने का ही एक अनंत संभावना वाला तरीक़ा है। पर लोगों की देखने की जो संवेदना है वह बहुत सीमित या भोथरी हो गयी लगती है। शायद जिन लोगों में यह दृष्टि बची है वे तो शहरी कला दीर्घाओं में जाने से भी घबराते हैं, क्योंकि वहां व्यावसायिकता का बोलबाला है।

चिंचालकर : वह क़रीब-क़रीब लुप्त हो गयी है। मैं बच्चों की तरफ़ आया तो इसीलिए कि उनकी सारी संवेदनाएं स्वाभाविक हैं। बच्चा जन्म के साथ ही अपने ढंग से सीखने में लग जाता है, बैठने से लेकर रेंगने, घुटनों के बल चलने और खड़े होने की तरक़ीबें वह स्वयं ही खोजता है। इसके साथ ही उसके भीतर बौद्धिक विकास भी चलता रहता है। पर जब

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वह चलने-दौड़ने लगता है तो हमारा हस्तक्षेप शुरू होता है। तब उसकी मौलिकता ग़ायब होती है और हमारा थोपना शुरू हो जाता है। तो यह सीख जो मुझे मिली उसी के आधार पर मैंने 'एकलव्य' जैसी संस्थाओं के साथ कई बच्चों के बीच काम शुरू किया।

हम बच्चे की अपनी कल्पना और संवेदना पर ध्यान नहीं देते। वैसे ही जैसे लकड़ी का एक टुकड़ा या प्लाइवुड का टुकड़ा अपने आप कुछ कह रहा है, यह हम नहीं पहचानते। प्रकृति का संगीत चल रहा है, पर हम उसे न सुनकर अपना संगीत उस पर थोपते हैं। बच्चे के भीतर जो संवेदनाएं भरी हैं उन्हें उभारना तो शिक्षा है, लेकिन उस पर अपने स्वभाव को थोपना तो शिक्षा नहीं है। यह तो अवरोध है। हम उसे अपने जैसा एक पुर्ज़ा बनाना चाहते हैं।

• बच्चों के बीच काम करने से आपको संतुष्टि तो मिली ही होगी, पर बच्चों में जो संभावनाएं पैदा हुईं उन्हें आप किस तरह देखते हैं?

चिंचालकर : बच्चों के साथ मैं जो वर्कशॉप करता हूं तो उनमें सिर्फ़ संभावनाएं जगाता हूं, उनके साथ खेलता हूं। बहुत पहले मैंने अक्षरों को चित्रों की तरह प्रस्तुत किया था, तो कई लोग आकर बोले कि आप हमारे बच्चों को भी यह सिखाइए। मैंने कहा कि मैं सिखाऊंगा नहीं, उनके साथ खेलूंगा। बच्चे ख़ुद सीखते हैं। अगर किसी को सिखाऊंगा तो बच्चों के पालकों या फिर शिक्षकों को ताकि वे बच्चों के साथ रहना सीख सकें।

एक बार क्या हुआ कि गुरु पूर्णिमा पर स्कूल ऑफ़ एजुकेशन ने मुझे बुलाया। तो मैंने कहा कि हमारी परंपरा में गुरु पूर्णिमा है, पांच सितंबर वाला शिक्षक दिवस तो बाद में बनाया गया है। कुमार गंधर्व कबीर का वह भजन गाते थे न कि 'गुणा तो जी ने ज्ञान की जड़िया दई'। यानी जो ज्ञान की जड़ी देता है और विद्यार्थी के ऊपर छोड़ देता है कि वह अपने ढंग से उसका विकास करे। लेकिन शिक्षक क्या है कि अपने ढंग से सिखाता ही रहता है। हर चीज़ को बस सिखाते जाइए। यानी उसे ख़ुद सीखने का अवसर ही नहीं मिलता। होना यह चाहिए कि हम बच्चों को कहीं-कहीं सिर्फ़ इशारा दें। उसकी कल्पनाशीलता को मुक्त रखें।

• बच्चों की जो चित्रकला प्रतियोगिता आदि होती हैं उनके बारे में आप क्या सोचते हैं?

चिंचालकर : यह जो ढकोसला चला है, उसमें तो बच्चों को एक माध्यम बनाया जाता है। शंकर का उद्देश्य ऐसा नहीं रहा होगा, पर बाद में वह विपर्यास हो गया। प्रतियोगिता के दिन बच्चों पर इतना दबाव आ जाता है कि वहां स्कूल की प्रतिष्ठा, अभिभावक की प्रतिष्ठा सब दांव पर लगा होता है। दिल्ली वग़ैरह में तो लोग बच्चों से चित्रों को रटवाते हैं। बाक़ायदा ट्यूशन रख कर। हरेक अभिभावक चाहता है मेरे बच्चे को इनाम मिले। बच्चों का कांपीटीशन नहीं होना चाहिए। बच्चा चित्र नहीं बनाता है, वह रंग और रेखा से सिर्फ़ खेलता है। यही उसका अनुभव है। इस प्रक्रिया में कोई चित्र भी बन जाये तो ठीक। पर आप देखिए हर कांपीटीशन में बच्चे वही तिकोने पहाड़, वही उगता हुआ सूरज, वही पेड़ बनाते हैं। यानी यह सब हमारा डिक्टेट किया हुआ है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

• आपने लकड़ी में भी कई कोलाज किये हैं। यह भी कोलाज की प्रचलित शैली से अलग तरह का ढंग है। आपने लकड़ी को ही क्यों चुना?

चिंचालकर : भई, आकार जब चारों ओर बिखरे हुए हैं तो हमें काटकर आकार चिपकाने की ज़रूरत क्या है। आप एक सपाट काग़ज़ लेते हैं तो वह एक निर्जीव सतह है। दीवार भी अगर सफ़ेद पुती है तो वहां कोई स्पंदन नहीं है। उसमें अगर एक मक्खी बैठी है या रेंग रही है तो उसमें स्पंदन शुरू हो जायेंगे। गायन की प्रक्रिया और पेंटिंग की प्रक्रिया दोनों बिल्कुल समान रूप से चलती हैं। वहां भी अवकाश का जो सूना कैनवस है उसमें एक तार, एक स्वर छेड़ने के बाद दूसरा, फिर तीसरा स्वर, और इस सबसे स्पंदन शुरू हो जाता है। फिर अलग अलग-अलग स्वरों के बिंदु डालते-डालते संगीत की एक चौखट तैयार हो जायेगी। फिर एक राग का निर्माण हो जायेगा। दस कलाकार भी इसी तरह एक ढांचा बनाते हैं, रंग और टेक्सचर देते हैं। सतह को पहले डिस्टर्ब करते हैं, फिर बैलेंस करते हैं। कैनवस के कोने पर कोई बिंदु बना हुआ है तो उसे संतुलित करने के लिए एक दूसरा बिंदु बनाते हैं। लेकिन जो पहले से ही असंतुलित है, जिसका बैलेंस टूटा हुआ है उधर हमारी नज़र नहीं जाती। जैसे प्लाइवुड का एक टुकड़ा है जिसकी खपचियां निकल गयी हैं तो वह तो हमारे लिए असंतुलित है। वहां हमारा फ़ॉर्मूला लागू नहीं होता। तो मैंने सोचा कि जो चीज़ अपने आप असंतुलित है, अपने ढंग से टूटी है, उसमें हस्तक्षेप न करके उसके स्वभाव के अनुरूप आकार बने। जो चीज़ बेकार पड़ी थी उसे फेंकने की बजाय उसमें एक आकार ढूंढ़कर उसे फ्रेम कर दिया क्योंकि वह कुछ कह रहा था। उसे हू-ब-हू रहने दिया। सिर्फ़ उसमें अगर कोई चीज़ डिस्टर्ब कर रही थी या कोई कमी लग रही थी तो उसे ठीक कर दिया। हमारी यह कोशिश सिर्फ़ एक प्रतिशत ही रहती है।

• आप आधुनिक कला की मुख्यधारा या आंदोलनों से जुड़े नहीं रहे। क्या ऐसा जानबूझकर किया?

चिंचालकर : किसी पेड़ से अगर कोई टहनी टूटती है तो उसकी संरचना और ढंग अलग ही होते हैं। यानी कोई एक ढंग नहीं होता। एक जगह पहुंचने के कई रास्ते हो सकते हैं। ज़रूरी नहीं कि हम हाई-वे से ही जायें। किसी ने मुझसे पूछा था कि आपने पेंटिंग बंद कर दी, आपका चित्रकार मर गया। तो मैंने कहा कि भाई मैंने हाई-वे बंद कर दिया, पगडंडी अपना ली। हाई-वे में कही पेट्रोल पंप मिलेगा, ढाबा या फ़ाइव स्टार होटल मिलेगा और कही चिल्ल-पों मिलेगी। तनाव बना रहेगा कि कौन ओवरटेक कर रहा है। हमने यह सब छोड़ दिया। पगडंडी पर चलते हुए हमें नयी-नयी चीज़ें दिख रही हैं और मज़े में। थक गये तो कहीं बैठ गये। किसी झरने के पास। तो यह यात्रा इतनी सुखद है। वह जो आनंद मिल रहा है वह मैं क्यों छोडूं। आप देखिए, हर जगह कितना कांपीटीशन चल रहा है। उसको एक लाख मिल गये, उसको डेढ़ लाख मिल गये, किसी को दस मिल गये। यह सब कंटेपटरी के नाम पर है, लेकिन है तो सब टेंपरेरी!

• गुरुजी, आप हमेशा इंदौर-देवास के बीच ही रहे, जबकि मालवा के कई कलाकार ब्रेंदे या हुसैन बड़े शहरों में आये। आज कलाकारों में मुख्य प्रकृति भी यही है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

चिंचालकर : अगर काम करना है तो उसके लिए कहीं भागें क्यों ? जैसे किसी आदमी का खेत यहां है, तो वह यहीं फसल उगायेगा, और चाहे तो उसे दिल्ली की मंडी में भी बेच आये। वह अपना खेत दिल्ली नहीं ले जा सकता। भौतिकतावाद ही तो सब कुछ नहीं होता, एक आदर्श का भी तो आदमी के लिए कुछ अर्थ होता है। हम उसे तिलांजलि नहीं दे पाते हैं। मैं तो सिर्फ़ एक भाषा जानता हूं — प्रकृति की भाषा। जो प्रकृति यहां है उसके अलग-अलग रूप कई जगह हो सकते हैं, जिन्हें देखने के लिए हम जगह-जगह जा सकते हैं, पर स्थायी रूप हमारा यहीं रहेगा। एक बार विजय तेंडुलकर ने दूरदर्शन के लिए मेरा इंटरव्यू किया था। उन्होंने पूछा कि गुरुजी आप में इतनी संभावना थी, सब कुछ था, पर आप ख़ाली फ़िलॉसफ़र बने रहे, आपमें महत्त्वाकांक्षा नहीं है। मैंने कहा कि मेरी महत्त्वाकांक्षा सबसे बड़ी है और मैं उसका प्रयास कर रहा हूं। मैं घिसता रहूंगा, पर मेरी महत्त्वाकांक्षा एक अच्छा इंसान बनने की है। पेंटिंग, संगीत, साहित्य सब उसी अच्छे इंसान बनने की सीढ़ियां हैं। और इन सबमें जीवन का जो मुख्य तत्त्व है उसे पकड़ने की कोशिश करूंगा। उसमें अध्यात्म भी है। यह सब इस युग में अप्रांसगिक हो सकता है, पर मेरी यह मानसिकता शुरू से बनी रही।

• समाज में कला और कलाकार की क्या भूमिका मानते हैं ?

चिंचालकर : मैं भी तो समाज का एक घटक हूं। कलाकार जब विकसित होता है तो वह अपने आसपास को भी कुछ विकसित करता चलता है। मैं समाज से अगर कुछ अपेक्षा करता हूं तो समाज भी मुझसे करेगा। मैं उसे ऐसा दूं कि वह उसमें कुछ पाये। लेकिन जो समाज लाखों-करोड़ों रुपये से कला की चीज़ें खरीदता है, वे उसकी समझ में ही नहीं आती हैं तो वह सिर्फ़ अपने अहं की संतुष्टि के लिए ऐसा करता है। लेकिन मैं चाहता हूं कि कला के आम दर्शक को मित्र चाहिए तो मेरे पास ही न आयें, परावलंबी न रहें, वे ख़ुद भी तो बनायें, कला की प्रक्रिया में ख़ुद भी जुटें। मैं यह दृष्टिकोण दे रहा हूं कि पहले देखना सीखिए, हर चीज़ के साथ खेलिए, चित्र अपने आप बन जायेगा। इसी से जागरूकता आयेगी। छात्रों के साथ भी मैंने यही तरीक़ा अपनाया। फ़ॉर्म की जमावट सिर्फ़ कैनवस पर ही नहीं होती, कहीं भी हो सकती है। हुसैन ने 'श्वेतांबरी' में भी यही किया था, पर वह लोगों की समझ में ही नहीं आया, क्योंकि लोग ख़ुद होकर देखना ही नहीं चाहते।

• बड़े शहरों में लगता है कि जो लोग कला को सचमुच समझ सकते हैं वे प्रायः आलीशान कला गैलरियों में जा नहीं पाते। वहां के माहौल में पैर रखने का उनका साहस नहीं होता।

चिंचालकर : कला और दर्शक के बीच जो खाई है, उसे शायद हम एक परिवार के लोगों के ज़रिये समझ सकते हैं। परिवार के लोग कहीं चले जा रहे हैं। पुरुष आगे निकल गया, पत्नी पीछे रह गयी, बच्चे और भी पीछे रह गये, क्योंकि वे जगह-जगह रुकते, चीज़ों का आनंद लेते हुए आ रहे हैं। अब एक जगह जाकर पति रुकेगा, लोगों का इंतज़ार करेगा। आधुनिक कलाकारों ने शायद यह इंतज़ार करना या पीछे मुड़कर देखना बंद कर दिया है। वे भूल रहे हैं कि उनके साथ एक समाज भी है। कलाकार अनवरत महत्त्वाकांक्षा में रह रहा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है। वह समाज को देखने की संवेदना देने की कोशिश नहीं कर रहा है।

• कला पर बाज़ार का भीषण दबाव पड़ रहा है या अमीर वर्ग सोचता है कि पेंटिंग ख़रीदना एक तरह का इनवेस्टमेंट है। हुसैन की पेंटिंग दस लाख में ख़रीदिए और कुछ ही साल में साठ लाख वग़ैरह की हो जायेगी।

चिंचालकर : व्यावसायिकता इस हद तक बढ़ गयी है। कला में ही क्यों, शिक्षा में भी। देखिए न, आपको विद्या ग्रहण करनी है तो आप के पास पूंजी होना ज़रूरी है। किसी ग़रीब बच्चे को मेडिकल में प्रवेश नहीं मिलेगा। जो डोनेशन नहीं दे सकता वह डॉक्टर नहीं बन सकता। पूंजी सिर्फ़ पूंजी को बढ़ाती है, उसमें कोई नैतिकता नहीं है। पहले जो विद्वान था वह अपनी विद्या से सब कुछ पा सकता था। और आज जिसके पास पूंजी है वह सब कुछ पा सकता है। वह विद्वान, वैज्ञानिक, कवि, कलाकार वग़ैरह कहलाया जा सकता है। पर क्या हम इसे सचमुच विकास कह सकते हैं ?

मेरी कला पर भी इस तरह के बाहरी दबाव रहे, पर एक भीतरी दबाव भी था और इन दोनों में द्वंद्व रहा। मैंने अपनी भीतरी ज़रूरत का रास्ता चुना। आज जो कला में चित्र को फ़्रेम से बाहर निकालने का चलन है, वह तो हम काफ़ी पहले कर चुके थे। प्रकृति के आकार फ़्रेम से बाहर निकली हुई कला नहीं तो और क्या है ? मुझे इसकी चिंता कभी नहीं रही कि मेरा चित्र बंबई या पेरिस जायेगा तो लोग क्या कहेंगे ? हम यह नहीं सोचते कि हमारे पास-पड़ोस का आदमी इसके बारे में क्या सोचता है।

1992

पचहत्तरवीं वर्षगांठ पर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

स्वगत

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

एक बेतरतीब डायरी

❑ 1976

अपनी लिखी जा चुकी कविताओं के सामने जाने या उन्हें किसी के सामने ले जाने में मुझे एक गुप्त क़िस्म की घबराहट होती है। मैं उनके बारे में कभी नहीं सोचता। इसी तरह, मैंने किसी के सामने उनकी व्याख्या नहीं की, हालांकि हर लिखने वाले की तरह मैं भी यह मानता हूंगा कि उन्हें ठीक-ठीक उन अर्थों में समझा जाये, जिन अर्थों में मैंने उन्हें लिखा है। लेकिन मेरे शब्दों के जो आशय और आहटें उन्हें काग़ज़ पर उतारते हुए मेरे भीतर थीं, क्या वे हूबहू उतर पायी हैं ? शायद नहीं। अनुभवों का कितना बड़ा हिस्सा है जो शब्दों से रिसकर कहीं और बह जाता है। भाषा से परे एक और भाषा है, जिसे शब्दों का एक स्पर्श ही पिघला कर रख देता है। पाब्लो नेरूदा की एक पंक्ति अकसर अच्छी लगती है : 'मुझे नहीं मालूम मुझे समझा भी जा रहा है या नहीं।' पर शायद यह कहना भी एक महत्त्वाकांक्षा है।

मेरी कविताएं मुझे कहीं से प्रभावित नहीं करतीं — और वे कविताएं भी नहीं जो मेरी कविताओं जैसी हों। मुझे उनमें अनेक दुहराव, उलझाव, निद्रानिमग्नता, एकरूपता दिखाई देती है। और एक रहस्य-तत्त्व जो अकसर उनमें से लपकता हुआ नज़र आता है। मैं जानता हूं कि यह रहस्य एक रसातल है जहां चीज़ें एक अनंत कोहराम में डूबी हैं।

❑ ❑

सबसे पहले मैं एक स्वच्छ कविता लिखना चाहता हूं। एक बहुत पारदर्शी कविता, जिसके शब्द उन घटनाओं के दृश्य हों जिनके बारे में वह है। शब्द अपारदर्शी होते हैं, उनके पीछे हमेशा अंधकार दिखता है और हम हमेशा उनसे घिरे रहते हैं। रोज़मर्रा के मानवीय व्यवहार में उन्हें पारदर्शी करना, उन्हें दृश्य करना, भारहीन करना भाषा की एक बड़ी समस्या रही है। मैं ऐसी कविता लिखना चाहता हूं जैसे गांव के बच्चे अपनी आंखों पर चिकना पारदर्शी काग़ज़ लगाते हैं। मैं ऐसी कविता लिखना चाहता हूं जिसके शब्द पढ़ने पर 'सुनाई' और 'दिखाई' दे सकें। मैं एक ऐसी कविता लिखना चाहता हूं जो जैसे दुनिया में या भाषा में पहली बार लिखी गयी हो, जैसे मेरी उस कविता से पहले कविता का अस्तित्व नहीं था। मैं कविता के इतिहास और अतीत से मुक्त एक कविता लिखना चाहता हूं जैसे मैंने उसी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

एक कविता को लिखने के लिए शब्द पैदा किये हों और वे तमाम शब्द पहली बार उस कविता में सांस ले रहे हों। कुछ महीने पहले मैंने रमेशचंद्र शाह जी से यह बात कही थी, पर उन्होंने यह कहकर टाल दिया कि ऐसी कविता लिखने के लिए कविता के इतिहास का एहसास होना बहुत ज़रूरी है, आप बिना उस इतिहास को जाने उससे मुक्त नहीं हो सकते। एक दिन शायद मैं ऐसी कविता लिखूंगा। वह मेरी सबसे अच्छी कविता होगी जो अनलिखी है।

अगर ऐसा हो कि शब्द मनुष्य की तरह व्यवहार करें। बहुत से लेखकों, ख़ास तौर से गोगोल, गोर्की, चेख़व जैसे लोगों को पढ़ते हुए भाषा की इस ताक़त का एहसास होता है। गार्की की आत्मकथा पढ़ना जैसे गोर्की से बात करना है। इस स्थिति का एक चरम क्या यह हो सकता है कि हम प्रेम की कोई कविता पढ़ें तो उसे पढ़कर लगे कि हमने प्रेम कर लिया है या किसी को प्रेम करते महसूस किया है। एक कोई कविता पढ़कर लगे कि हमने अभी-अभी कोई खेल खेला है। कोई कविता ऐसी भी संभव है कि जिसे पढ़ने के बाद लगने लगे कि हमारा पेट भर गया है। कविता रोटी या प्रेम या मृत्यु या खेल या संगीत का विकल्प तो नहीं है, उसका आभास ज़रूर है। हर्बर्ट मारक्यूस ने ही कहा होगा कि सारा साहित्य या तो स्मृति है या स्वप्न।

❑ ❑

मुझे अपनी कविताओं से भय होता है, जैसे मुझे घर जाते हुए भय होता है।

❑ ❑

हिंदी आलोचना के साथ सबसे बड़ी दिक़्क़त यह है कि उसकी मांग होती है कि उसे महत्त्व दिया जाये। उस रचना से भी ज़्यादा, जिसकी वह आलोचना है। आलोचना महत्त्वपूर्ण होने की कोशिश या दिखावा करती है। जबकि होती नहीं है। हिंदी कविता की आलोचना ने अच्छी कविता और रद्दी कविता का घालमेल करने, नामों की सूची गिनाने, इधर-उधर से जांच करने और घपला करने के अलावा ज़्यादा कुछ नहीं किया है। हिंदी आलोचना विश्लेषण प्रस्तुत करती है या उसका दावा करती है। कविता का विश्लेषण किया नहीं जा सकता, उसे सिर्फ़ 'समझा' जा सकता है और समझने का कोई अंत नहीं होता। हिंदी के ज़्यादातर आलोचकों में यह समझ नहीं है और अब जब भी वे नाम गिनाते हैं तो आशंका होती है कि उनका उद्देश्य क्या है।

❑ 1988

नागार्जुन, शमशेर, त्रिलोचन — कैसी पीढ़ी है यह! कविता और जीवन दोनों में सहज और अगाध विश्वास रखनेवाली। शायद यह विश्वास उन्हें पिछली पीढ़ी से, शायद निराला से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मिला है। इसलिए हम उन्हें कुंठित परेशान और शिकायत करते हुए नहीं पाते हैं। उनका महत्त्व अभी बाद में पहचाना जायेगा। नागार्जुन को जनवादी कवि कहना बहुत आसान है क्योंकि नागार्जुन की कविता प्रत्यक्ष तौर पर भी अपना यही परिचय देती है और उन्हें जनवादी बताने के लिए दिमाग़ पर ज़्यादा ज़ोर नहीं देना होता। शमशेर को शायद पचास साल बाद लोग समझें। शायद तब हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना कुछ सार्थकता पाये। शमशेर को लेकिन कोई शिकायत नहीं। दरअसल इस पीढ़ी ने कभी अपने को कुंठित नहीं होने दिया। कभी अपने संघर्षों और दुखों की दुंदुभि नहीं बजायी। 'जो कि नहीं है उसका क्या ग़म।' यह हैं शमशेर।

जबकि हम लोग कविता पर आधा विश्वास भी नहीं कर पाते। हमेशा यही सोचते हैं कि हम जो लिख रहे हैं वह क्या समकालीन, आधुनिक और स्वीकार्य है या नहीं। हम स्वीकृत हो जाना चाहते हैं। कविता हमारे जीवन में शामिल नहीं है और न हम कविता में शरीक हैं। हम विश्वास करते हैं कविता के कहीं छप जाने पर, कविता संग्रह आ जाने पर, अनुवाद हो जाने, चर्चाओं में बने रहने पर, विदेश चले जाने या पुरस्कार पा जाने पर। इसीलिए हम अच्छी कविता नहीं लिख पाते, बस उसके लिए जी-तोड़ कोशिश करते रहते हैं। शमशेर की ही एक पंक्ति है : 'कवि के लिए उसकी कविता एक बार लिखी जाकर हमेशा प्रकाशित है।' हम इस पर कितना विश्वास करते हैं ?

❑❑

अच्छे आदमी बनो — रोज़ मैं सोचता हूं। क्या सोचकर अच्छा आदमी हुआ जा सकता है ? अच्छा आदमी क्या होता है ? कैसा होता है ? किसकी तरह ?

❑❑

यथार्थ! यह संसार का सबसे कठिन शब्द है। करोड़ों जीवन यथार्थ को समझते-समझाते बीत गये। यह तब भी सबसे विकट, गूढ़ और रहस्यमय शब्द है। अतियथार्थ और अयथार्थ भी दरअसल यथार्थ हैं। मानसिक यथार्थ भी भौतिक यथार्थ है। भाषा इसके सामने अपर्याप्त है। क्या 'पेड़' शब्द लिखकर हम पेड़ को पूरी तरह, उसके समूचेपन में व्यक्त कर सकते हैं ? इसीलिए हर अभिव्यक्ति, हर वर्णन, हर कविता हद से हद यथार्थ को कहने का एक तरीक़ा, एक प्रयत्न है। एक संभव प्रयत्न। इसीलिए मेरी कविता अपरिवर्तनशील, अकाट्य, अनश्वर और अंतिम नहीं है।

❑❑

मैं एकदम साधारण भाषा में ऐसे अनुभवों को लिखना चाहता था जो साधारण न हों। मैं कोई नयी भाषा नहीं रचना चाहता। मैं सामान्य, उपलब्ध, प्रचलित, घिसेपिटे, बहुत

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इस्तेमाल में आये हुए शब्दों से उन चीज़ों को व्यक्त करना चाहता था जो अप्रत्याशित और असामान्य हों और बहुत करके पहले व्यक्त न हुई हों।

❑❑

पहले मैं हर चीज़ की, हर व्यक्ति की प्रशंसा करता था। सोचता था शमशेर की तरह मैं भी चीज़ों का उजला पहलू ही पहले देखूंगा। पर अब मैं ज़्यादातर चीज़ों की आलोचना और भर्त्सना करने लगा हूं। मुझे उनका खोट ही सबसे पहले दिखता है।

❑❑

एक अर्से बाद शमशेर बहादुर सिंह अपनी पुरानी दिल्ली आये, वाणी पुरस्कार के समारोह में। शमशेर को देखना। मैं उन्हें देखता ही रहा। असाध्य बीमारी के बाद का नया जीवन। इस दूसरे जीवन में वे एक बच्चे की तरह दिख रहे थे। मैंने रंजना अरगड़े और उनके पिता से कहा कि आप लोगों ने शमशेर को हिंदी को लौटा दिया है। रंजना के पिता की आंखें भर आयीं और उन्होंने हाथ आसमान की ओर उठाये। लॉन में घास पर कुर्सियां थीं। एक कुर्सी पर बैठे शमशेर गुणाकर मुले से कह रहे थे: 'देखिए, संसार में जितनी भी भाषाएं हैं वे सब हमारी मातृभाषाएं हैं। जो यह नहीं मानता वह मानवता का शत्रु है।'

❑ जून 1988

ख़ुशी की एक कविता जो मैं कब से लिखना चाहता था कभी नहीं लिखी जायेगी। गहरे दुख की कविता भी शायद नहीं लिख पाऊंगा। मेरे जीवन की घटनाएं न सुखद हैं न दुखद। वे सिर्फ़ घटनाएं हैं और मैं उनका कर्ता भी नहीं हूं, सिर्फ़ भोक्ता हूं। मेरा जीवन भी शायद मेरा नहीं है। पता नहीं किस-किस का जीवन, भीड़-भरी बसों और ख़ाली दीवारों का जीवन इसमें शामिल है। अकसर सोचता हूं मैं कब करूंगा अपने काम जो मुझे कब से करने थे। फ़िलहाल मेरी कविता में अंधेरा ही अंधेरा है। न प्रेम, न संघर्ष, न स्मृतियां, न स्वप्न, न कोई आवाज़, न कोई छिपा हुआ रंग, न गंध। मेरे बचपन की भी गंध नहीं। इस अंधेरे का भी कोई रूप-आकार या व्यक्तित्व नहीं है। अंधेरा नहीं होता तो वहां एक शून्य होता। शून्य न होता तो प्रकाश होता, पर वह अंधेरे का विलोम नहीं होता।

❑❑

स्त्रियों से कहीं ज़्यादा सुंदर है स्त्रियों की कल्पना। कल्पना की स्त्रियां चाट नहीं खातीं और गहनों की फ़रमाइश नहीं करतीं। उनके स्तनों और दिलों में गांठें नहीं होतीं। उनके चेहरों पर झुर्रियां नहीं होतीं और वे पाउडर से पुते हुए नहीं होते। साठ की उम्र में भी वे लगती हैं युवा और सुंदर।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

□□

हिंदी में आज तीन महान कवि हैं। जहां भी जाइए, जिस भी खेमे में पधारिए, पता चलता है कि तीन महान कवि हैं। हर जगह वे हमेशा तीन हैं गोकि हर जगह उनके नाम अलग-अलग हैं। मूल समस्या यही है। तीन नाम हमेशा के लिए तय हो जाते तो मैं भी उन्हें याद रखता और पूछने पर तुरंत बता देता।

□□

अच्छी कविता। शायद वह अचानक कहीं मिल जाये। शायद नींद में, सपने में, शायद चलते-चलते रास्ते में जैसे कोई चकमता सिक्का पड़ा दिख जाता है। उसकी एक पंक्ति अचानक सुनाई या दिखाई दे जाये। शायद कल सुबह जागने पर वह मुझे याद रहे।

□□

मैं मनुष्य हूं या कवि या कि मनुष्य और कवि? क्या मैं कवि हूं जो इस संसार का एक सामान्य मनुष्य भी है या कि मैं एक मनुष्य हूं जो इस संसार में कविता भी लिखता है?

□□

वीरेन डंगवाल कितना बेहतर कवि है। उसकी कविता की गहराई और देखने का तरीक़ा मुझे चकित करता है। पर कविता को वह इतनी पवित्र चीज़ मानता है कि उसे लिखने का साहस नहीं करता। इसके बदले वह क़लम निकालता है और एक ख़बर लिखकर अख़बार को भेज देता है।

□□

यह सभी की समस्या रहती होगी कि हम मनुष्य के रूप में कैसे हैं। मेरा व्यक्तित्व कैसा है? मुझे कैसा होना चाहिए? क्या मुझे ख़ामोश रहना चाहिए या वाचाल? ख़ामोश होता हूं तो वैसी कविता नहीं लिख सकता जैसी लिखना चाहता हूं और बातूनी होने पर ख़राब आदमी होने का भय है। क्या मुझे मुस्कराते रहना चाहिए या उदास बने रहना चाहिए? इसी द्वंद्व में मैं जब ख़ुश होता हूं तो उदास दिखता हूं और उदास होता हूं तो हास्यास्पद लगता हूं!

□□

किसी कवि को देखकर कोई विडंबना और करुणा से भर उठे तो क्या आश्चर्य! समाज में कवि की स्थिति मुझे हमेशा चकित करती रही है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

क्या कवि समाज का नायक है ? क्या उसे हीरो की भूमिका में कूद पड़ना चाहिए ? क्या वह पथप्रदर्शक, दृष्टा, हिरावल नेता और प्रकाशस्तंभ है या कि एक हाशिये की, ग़ैरज़रूरी और लगभग अर्थहीन उपस्थिति है ? उसकी ज़रूरत किसे है ? उसके हाथों से समाज में कोई आदेश जारी नहीं होता। वह सफलता का आदर्श नहीं है। ऐसा आदमी किस काम का है ?

❑❑

काश हम कवि पहले चोर या डाकू होते। एक दिन वाल्मीकि की तरह क्रौंच-वध जैसा कोई दृश्य देखते और हमारे मुख से कविता फूटती और हम महाकवि बन जाते। या हम कोई वीर पुरुष होते और वीरता ही हमारी कविता होती। या हम कोई राजकुमार होते और एक दिन संसार का दुख-दैन्य और जरा-मरण देखकर सब कुछ छोड़कर निकल पड़ते और मनुष्य की मुक्ति का रास्ता खोज लेते। या कविता एक चमत्कार की तरह हमारे दिमाग़ में उतर आती। ऐसा कुछ नहीं हो सका। हम सामान्य मानवीय जीवन से ऊपर नहीं उठे। पर क्या हम इस सामान्य जीवन को सही सम्मान भी दे पाते हैं ?

❑ **मार्च 1989**

आप अचानक किसी संकट में फंस गये हैं। आपकी चोट साफ़ दिखाई दे रही है। काफ़ी ख़ून बहा होगा। कुछ ख़ून अब भी बह रहा है। पीड़ा भी हम समझ सकते हैं। यह चोट इस बात का प्रमाण है कि आदमी अगर समझदार न हो तो उसके साथ इस समाज में क्या होता है। लेकिन चोट आपको लगी क्यों ? इसकी कोई वजह साफ़ नहीं दिखाई देती। बस चोट ही दिखाई देती है। क्या कोई ग़लती आपसे हुई है ? आपके जीवन में कोई गड़बड़ है ? विचारों में कोई दोष है ? कृपया हमें बतायें। अरे, आप तो चोट ही दिखलाये चले जा रहे हैं। क्या आप उसकी वजह नहीं जानना चाहते ? बार-बार चोट दिखाते हैं पर नहीं बताते कारण; अब इस संकट का हम कैसे करें निवारण!

❑❑

हमें बताया गया है कि कम शब्दों में अधिक कहना, मितव्ययिता, संयम और चुस्ती ही कविता की सफलता है। उसमें नाटकीयता और रेटॉरिक न हो तो बेहतर। क्या हम ऐसे ही कुछ काव्य-गुणों के आधार पर कविता लिखे जा रहे हैं ? अनुभवों का विस्तार और गहराई और सघनता और विशालता जो काव्य-भाषा और शिल्प को बहाती उड़ाती नये लोकों की ओर उछालती ले जाती हो, बहुत कम दिखाई देती है। क्या कहीं कविता की फ़ैक्ट्री खुली हुई है जहां वह लगातार ढल रही है ? कितने सारे कविता संग्रह चले आ रहे हैं ! कविता संग्रहों के भीतर से निकलते कविता संग्रहों के भीतर से और भी निकलते कविता संग्रह।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जैसे अंडे देने वाली मुर्ग़ियां। लेकिन कविता की आत्मा कहां है ? दिमाग़ को विचलित कर देने वाली वह भावना कहां है ?

❑ मई 1990

दिल्ली में भयावह भीड़ हो चुकी है। यह बढ़ती ही जा रही है। लोग तमाम बौराये हुए-से पता नहीं कहां क्यों भागे जाते हैं। भीड़ भगदड़ और एक क्रूर रफ़्तार से चलने वाली बसों की ओर प्राय: उसी निर्ममता से लपकते लोग। एक लतीफ़ा कहीं सुना था कि किसी गांव से एक आदमी दिल्ली आया — शायद पहाड़ से ही आया होगा — और दूसरे दिन ही घर लौट गया। लोगों ने पूछा कि इतनी जल्दी क्यों चले आये। दिल्ली को देखा या नहीं या कि वहां गये ही नहीं ? उस आदमी ने जवाब दिया कि दिल्ली गया तो था लेकिन देखा कि लोग इधर से उधर और उधर से इधर भाग रहे हैं। शायद वे सब दिल्ली छोड़कर जा रहे थे। मेरे ख़याल से दिल्ली अब तक ख़ाली हो गयी होगी। सो मैं भी चला आया।

लेकिन दिल्ली कभी ख़ाली नहीं होती। जिन्हें उस गंवई ने दिल्ली छोड़ते हुए देखा था वे सब शायद दिल्ली आ रहे थे। लगातार। यह एक विशाल और भयंकर शरणार्थी शिविर का-सा माहौल है। शायद विभाजन के साथ ही यह शुरू हो गया था। शायद फ़र्क़ यह है कि पहले के शरणार्थी तंबुओं, रैनबसेरों, रेलवे प्लेटफ़ॉर्मों, फ़ुटपाथों में थे और अब वहां से उठकर आलीशान इमारतों में आ गये हैं। मानसिकता लेकिन वही शरणार्थियों की है। अब उनके पास बड़ी-बड़ी कारें हैं। पिछले चारेक साल में इतनी कारें हो चुकी हैं कि पैदल आदमी के लिए जैसे जगह ही नहीं है। ही इज़ अनवांटेड। चौड़ी सुंदर सड़कों पर देर तक ट्रैफ़िक जाम। और मारुति कारों ने तो ग़ज़ब ही ढा दिया है। तमाम अपराधों में पता चलता है कि मारुति कार का इस्तेमाल किया गया। संजय गांधी की यह जनता कार 'क्राइम कार' हो चुकी है। फिर भी हर निम्न मध्यवर्गीय आदमी के सपने में मारुति छायी हुई है। पहले साइकिल, फिर स्कूटर, फिर मारुति, फिर और कोई बड़ी कार। सफलता की सीढ़ियों की तरह। नयी मारुति कारों के पीछे शीशे पर स्टिकर चिपके दिखायी देते हैं : माइ नैक्स्ट कार इज़...

एक दिन लगता है दिल्ली की तमाम इमारतें एक दूसरे पर गिर पड़ेंगी। तमाम कारें एक दूसरे से टकरा जायेंगी। उपभोक्ता वस्तुओं को बेचते विज्ञापनों के होर्डिंग एक दूसरे पर टूट पड़ेंगे। आज से दस या बीस साल के बाद अगली सदी में दिल्ली कैसी होगी ? क्या लोग हैलिकॉप्टरों से जायेंगे और अपने दफ़्तरों की छतों पर उतरेंगे ? साहित्य में भी क्या ऐसा नहीं लगता कि कई लोग कुछ अदृश्य क़िस्म की बड़ी-बड़ी कारों में चल रहे हैं। उनका एक पूरा नेटवर्क है। एक सांस्कृतिक तंत्र। ...मेरे जैसे लोगों के लिए इस दिल्ली में जगह लगातार कम होती जा रही है। हां, सिर्फ़ इतवार को दिल्ली अच्छी लगती है। सुंदर और विस्तीर्ण। सड़कों पर कारें और दिल्ली की कुख्यात बसें भी कम होती हैं। साइकिल सवार काफ़ी दिखते हैं और उनके चेहरे पहचाने जाते हैं। तब लगता है दिल्ली एक सुंदर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

शहर है। ऐसे शहर को लोग क्यों इतना गंदा, कुरूप और अमानवीय बनाने पर तुले हैं ? इतनी अच्छी जगह में इतने बुरे लोग एक साथ शायद कहीं और नहीं रहते होंगे। मिर्ज़ा ग़ालिब ने दिल्ली के बारे में कहा था : 'अब इस मामूरे में क़हत-ए-ग़म-ए उल्फ़त है/ हमने यह माना कि दिल्ली में रहें मगर खायेंगे क्या।' यानी यहां प्रेम की पीड़ा का भी अकाल है!

❑ 21 मई 1990

तमाम अच्छी कविताएं प्रेम कविताएं हैं लेकिन तमाम प्रेम कविताएं अच्छी कविताएं हों यह ज़रूरी नहीं।

❑❑

मैं ऐसे छोटे-छोटे झूठ बोलता हूं जिनसे दूसरों को कोई नुक़सान नहीं होता। लेकिन उनसे मेरा नुक़सान ज़रूर होता है। मसलन, झूठ बोलना ही एक अपने आप में बड़ा नुक़सान है।

❑❑

कई बरस हुए कविता लिखते-लिखते। हर बार यही लगता है कविता मुझसे छूटती जा रही है। लगातार दूर जा रही है। 'दामाने-ए-ख़याल-ए-यार छूटा जाये है मुझसे।' ऐसी ही हताश मन:स्थिति में ग़ालिब ने लिखा होगा।

बहुत से कवि इस मायने में सुखी हैं कि उन्हें पता है वे क्या और क्यों लिखते हैं। उनके पास कविता का एक स्पष्ट और सर्वशुद्ध हल मौजूद है। मैं तो यह भी नहीं जानता कि जो कविता मैंने लिखी है वह ठीक-ठीक क्या है। और फिर कविता लिखना कितना कठिन और तकलीफ़देह होता जा रहा है। एक कोई ख़याल आता है, कोई स्मृति आती है या कोई स्वप्न और वह थोड़ी दूर चलकर बिला जाता है या जैसे काग़ज़ पर आगे बढ़ने से इनकार कर देता है। शायद जीवन के अनुभव ही इतने सिकुड़ गये हैं कि उनसे कविता की कोई पोशाक नहीं बन पाती। छोटे-छोटे रूमाल ज़रूर बनते हैं।

❑ 16 जून 1990

इन दिनों कोई अच्छी किताब ख़रीद कर लाता हूं तो कुछ दिन तक चाहते हुए भी पढ़ नहीं पाता। या आठ-दस पन्ने पढ़कर रख देता हूं क्योंकि इतनी सुंदर किताब लगता है बार-बार हाथ लगने से गंदी हो जायेगी। मैं उसे एक पवित्र वस्तु की तरह रखे रहता हूं। उसे हाथ में लेने, उलटने-पुलटने और पढ़ने से डरता हूं। इस तरह कुछ दिन बीतते हैं और मैं उसे भूलने लगता हूं। लेकिन समय और उसकी चीज़ों से उठती हुई धूल अपना काम करते रहते

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हैं। कुछ समय बाद वह किताब रखे-रखे पुरानी हो जाती है और उसकी जैकेट के कोने तुड़े-मुड़े फटे हुए दिखने लगते हैं।

❑ जून 1992

स्त्रियों के सौंदर्य पर कितना कुछ लिखा गया है। कितनी महान रचनाएं स्त्रियों का गुणगान करती हैं। सभी स्त्रियां सुंदर होती हैं। ऐसी कोई स्त्री नहीं जो सुंदर न हो। कोई न कोई सुंदरता उनमें हमेशा मौजूद होती है। वे स्त्रियां भी बहुत सुंदर लगती हैं जिन्हें हमारे समाज में आम तौर पर सुंदर नहीं माना जाता। पर क्या तुमने कभी स्त्रियों के कान देखे हैं ? वे प्रायः असुंदर होते हैं। उनके शेष सारे सौंदर्य का मुंह चिढ़ाते हुए-से। वे भद्दे तरीक़े से उनके गालों के पास चिपकाये हुए लगते हैं। अजीब से मुड़े हुए और विकर्षक। शायद इसीलिए स्त्रियां अनजाने ही उन्हें अपने बालों से ढंकी रहती हैं और इसीलिए वे कम ही नज़र आते हैं।

❑❑

जाने क्या है कि धोखा खाने, ठगे जाने में मुझे एक अजब-सा संतोष मिलता है। शायद थोड़ी ख़ुशी भी होती है। कोई चीज़ ख़ो जाये तो कुछ देर को अच्छा लगता है। बाज़ार से कोई चीज़ ख़रीदता हूं — मसलन कमीज़, जूता, बैग या माचिस — और वह ख़राब या नक़ली निकलती है तो एक राहत-सी महसूस देती है। अमेरिका में मैंने एक बड़ा-सा महंगा-सा बैग लिया था जिसका कंधे पर लटकने वाला फ़ीता घर लौटते-लौटते टूट गया तो मुझे प्रसन्नता हुई कि अमेरिका की चीज़ें हमारी निगाह में बहुत टिकाऊ मानी जाती हैं पर वे भी जल्दी टूटती हैं। कहीं रास्ता भटक जाता हूं तो कुछ घबराहट ज़रूर होती है लेकिन यह भी लगता है कि अच्छा है इस रास्ते ने मुझे ठग लिया। यानी यह एहसास कि यह वह नहीं है या था जो वह सचमुच होता या होना चाहिए था। यह 'वह' भी नहीं है जो 'वह' की शक्ल में प्राप्त हुआ। वह कुछ और है और उसे पाने की कोशिश में ठगा जाता हूं। यह ठीक भी है। कोई उधार लिये पैसे लौटाता है तो अचानक लगता है कि मैंने कुछ ठगी कर ली है।

❑❑

कबीर का एक पद जिसे कुमार गंधर्व ने गाया है उसमें एक जगह है — 'अकथ कथा'। यह 'अकथ कथा' ही शायद सच्ची कविता है। कविता वही है जो अकथनीय को कह देती हो। हम लोग कितना सारा कथनीय ही कहते चले जाते हैं और ख़ुश रहते हैं।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

❑❑

पिता को जब खांसी का दौरा पड़ा तो मां भी धीरे-धीरे खांसने लगी। बेटे का बुख़ार तेज़ हो गया। बेटी के कानों में ज़ोरों का दर्द उठा। पत्नी को सुबह से दांत की तकलीफ़ थी सो वह भी कराहने लगी। इतने में रसोई गैस ख़त्म हुई। तभी बिजली चली गयी और टेलीफ़ोन जिसकी घंटी देर से घनघना रही थी, आख़िरकार ढेर हो गया। इस तरह शेष संसार से मेरा संपर्क टूटा। सुबह उठकर जब मैंने अख़बार में पढ़ा कि एक भीषण दुर्घटना होते-होते रह गयी तो राहत की एक सांस ली।

❑ 12 सितंबर 1992

कल पिताजी नहीं रहे। रात एक बजकर पंद्रह मिनट पर उन्होंने अंतिम सांस ली। मेरे लिए जैसे एक क्षण में हज़ार घटनाएं घट गयीं।

मैं दस को आ गया था। पिताजी को हिचकियां लगी थीं। पेट में पानी पहुंचता तो गड़गड़ाहट होने लगती। मनु की लायी हुई हिचकियां रोकने की दवा दी। गले में कुछ फंसा हुआ-सा लग रहा था। गर्म पानी में विक्स की भाप दी। कुछ आराम लगा। उसके बाद उन्होंने कुछ बातचीत की। मैं बार-बार अपनी रुलाई रोक रहा था। समझ में नहीं आता था क्या करूं। दिल्ली या देहरादून, कहीं अस्पताल या नर्सिंग होम में ले जाने की हालत नहीं थी। मैं मां और दीदी के सामने कमज़ोर नहीं दिखना चाहता था सो रुलाई रोकता रहा। जब नहीं रुकती तो उस कमरे से, जहां मेरा बचपन और मेरे पिता की अधेड़ अवस्था बीती थी, बाहर वाले कमरे में रोने चला जाता। कुछ देर बाद लगा जैसे उनके गले में कोई जाल-सा बुन गया हो। बोलने पर घरघराहट होती थी। जीभ लाल थी। पैन्यूली जीजाजी ने कहा कि नमक के साथ बिना दूध की चाय दो। कई बार दी। उससे गला फिर कुछ खुला। उन्होंने दाल का पानी भी पिया। फिर दिल को भेदता हुआ-सा एक वाक्य कहा, 'अच्छा हुआ जो तुम्हारे दर्शन हो गये।' मुझे फिर रोना आ गया। कितनी बिडंबना, कितनी तकलीफ़ थी इसमें। सुबह एकाएक लगा कि अब उनकी तबीयत ठीक हो रही है। लेकिन उनकी टूटी-फूटी बातों में कहीं यह आभास था कि अब विदा का समय आ गया है। बड़ी दीदी ने कहा कि वे तुम्हारे ही लिए रुके हुए थे।

दिन में उन्हें हल्की-सी बेहोशी ने जकड़ना शुरू कर दिया था। पहली रात जो उम्मीद बंधी थी कि शायद वे कुछ दिन और जी जायेंगे, वह धुंधली होने लगी। सुबह पैन्यूली जी दवा लेने टिहरी चले गये थे। दीदी और मैंने उनके कपड़े बदले और फिर लौकी के रस के दो-चार चम्मच दिये। दिन में ज़रा-सा दाल का पानी पिया। तब तक निगलने में तकलीफ़ के अलावा कोई ख़ास समस्या नहीं थी। कुछ बातचीत भी करते रहे। लेकिन एक बजे के बाद वे कोमा में चले गये। धीरे-धीरे आवाज़ बंद हुई, फिर इकहरी सांस चलने लगी। गांव के कई लोग देखने आये, पर उन्होंने किसी को नहीं पहचाना। मां, दीदी और मैं तीनों जान चुके थे कि अब यह अंत है। जो तकलीफ़ उन्हें हो रही थी, उसका एहसास

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भी शायद उन्हें नहीं था। न उन्होंने कोई पीड़ा महसूस की न हम लोगों को महसूस होने दी।

मेरे पिता अब जल में जल की तरह हैं। मिट्टी में मिट्टी की तरह हवा में हवा की तरह आग में आग की तरह आकाश में आकाश की तरह। क्या वे इनमें विलीन हो गये? नहीं, वे इन सब में उपस्थित हैं। मालीदेवल में जहां भागीरथी दक्षिण से फिर उत्तर की ओर मुड़ती है यानी उत्तरायण होती है, वहां जाकर हम लोग उनकी निर्जीव देह को, जो कि जीवित अवस्था में इतने दर्द और इतनी उम्मीदों से भरी होती थी, चुपचाप और सिसकते हुए जला आये। वापस लौटते हुए मेरे भीतर एक भयानक ख़ालीपन था — एक सन्नाटा जिसमें सिर्फ़ मृत्यु उपस्थित थी और बीच-बीच में पिता का चेहरा आकर एक मर्मांतक हलचल पैदा करता था। मुझे बार-बार यह लगता रहा कि उनकी स्मृति ही मेरे भीतर उनकी उपस्थिति है। मुझमें जो कुछ है वह सब मेरे पिता हैं। मैं उनके समक्ष हमेशा अयोग्य ही रहा। वे सिर्फ़ यही चाहते थे कि मैं घर ज़्यादा से ज़्यादा आऊं, उनकी आंखों के सामने ज़्यादा से ज़्यादा दिखता रहूं। यही एक काम था जो मुझसे नहीं हुआ जिससे मैं पता नहीं क्यों कतराता रहा। मैं इसकी वजह नहीं जानता। शायद इसलिए कि मैं जीवन भर एक भगोड़े की मानिंद रहा या एक गुलामी की नौकरियां करता और बदलता रहा। या शायद इसलिए कि मेरा घर मेरी स्मृति में जिस तरह से था वैसा अब नहीं रह गया था। पिता की वृद्धावस्था का घर एक बिखरा हुआ उजड़ता हुआ दीवारों पर झूलती झुर्रियों और उनके भीतर पैठी दरारों का एक पराजित-सा घर था, जबकि मेरे बचपन का घर एक जीता-जागता भरापूरा ख़ुशहाल और मेरे पिता की कर्मठता का घर था। शायद मैं अपने उस घर में बार-बार लौटना चाहता था और अपने घर के खंडहर से बार-बार दूर भागना चाहता था। कैसी विडंबना और कैसा दुख है कि घर के खंडहर होने की वजह भी मैं ही रहा।

शाम तक सभी लोग आ गये थे। संयुक्ता, मोहित, अल्मा, कौंसवाल जी और सभी बहनें। बहनों के मन में मेरे पिता की छवि हमेशा 'लार्जर दैन लाइफ़' रही। उनके लिए पिता से ज़्यादा बड़ी और ज़्यादा पवित्र कोई चीज़ नहीं थी। उनकी दवा की कोई ख़ाली शीशी भी मेरी बहनों के लिए एक नायाब चीज़ थी। उनके स्नेह और ममता के कारण ही शायद यह संभव हुआ कि पांच बहनों को मुझ जैसे निकम्मे भाई से कभी कोई शिकायत नहीं रही। बड़ी देर तक बहनों का रोना घर के भीतर से उठता रहा।

❑ 16 सितंबर 1992

इतने सारे लोग। इस पाखे की ज़्यादातर बूढ़ी स्त्रियां जिनकी तकलीफ़ों का इलाज कभी-न-कभी मेरे पिता ने किया होगा। और बूढ़े लोग भी। वे सब मातमपुर्सी के लिए आते हैं। उनमें से ज़्यादातर को मैं पहचानता ही नहीं हूं। कुछ के चेहरे याद हैं, पर नाम भूल गया हूं। मैं विमूढ़-सा उन्हें सुनता रहता हूं। मेरे पिता गहरे धार्मिक थे और मैं हूं कि कर्मकांड पर ज़रा भी विश्वास नहीं करता। लेकिन पिताजी की धार्मिक प्रवृत्ति के अनुरूप मैंने सारे संस्कार किये, मुंडन कराया और सारी क्रिया का पालन कर रहा हूं। जब भी कोई आता है,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मेरी कोई दीदी या भुली रोने लगती है और पिताजी से जुड़ी घटनाओं का एक लंबा सिलसिला शुरू हो जाता है। सपने भी इसी तरह के आते हैं। सपने और अंधविश्वास। तरह-तरह की आशंकाओं के बिंब। पहाड़ में रात को इतना घना और ठोस अंधेरा छा जाता है। जैसे कालिदास का 'सूच्चिभेद्येस्तमोभि:'। ऐसा अंधकार जिसे सुई से भेदा जा सके। जब मेरे बचपन में यहां बिजली नहीं थी क्या उस समय भी मैं डरता हूंगा? शायद उस समय मैं डर नाम की चीज़ से परिचित नहीं था। मासूमियत में कोई डर नहीं है। डर चतुराई की देन है।

❑ 17 सितंबर 1992

कुछ संतोष यही है कि पिताजी के जीवन के अंतिम पांच-सात वर्षों में मैंने और संयुक्ता ने उनके इलाज पर पूरा ध्यान दिया। उन्हें अपने साथ रखा और अच्छे से अच्छे डॉक्टरों को उन्हें दिखाया। इसमें डॉक्टर यतीश अग्रवाल ने जो मदद की वह अविस्मरणीय है। उनके मन में पिताजी और मां के प्रति बहुत सम्मान था। पिताजी के फेफड़े में कहीं कोई अवरोध पैदा हो गया था जिसका पता लेज़र-जांच से भी नहीं चल पाया। डॉक्टरों ने कहा कि सतासी वर्ष की उम्र में बायोप्सी वग़ैरह कराकर उनकी कमज़ोर देह को तकलीफ़ देना ठीक नहीं है। पिता को सबसे बड़ा दुख यह रहा कि उनकी आंखें ठीक नहीं हो सकीं। सफ़दरजंग, ऑल इंडिया मेडिकल इंस्टीट्यूट और डॉ. पटनायक वग़ैरह के क्लीनिक में कई बार जांच हुई, कई चश्मे बनाये। लेकिन डॉक्टरों का कहना था कि उनका फ़ोकस रेटिना पर नहीं बन पा रहा है क्योंकि आंखों के उस हिस्से में रक्तसंचार बंद हो चुका है और उसे ठीक करने का कोई उपाय नहीं है। दूर की चीज़ें पिताजी को ठीक दिखायी देती थीं, लेकिन वे अख़बार नहीं पढ़ पाते थे और यह उनके अफ़सोस और ऊब का सबसे बड़ा कारण था। अंत तक उनमें एक भोला-सा बच्चों जैसा विश्वास बना रहा कि बाज़ार में और यहां तक कि पटरियों पर भी ऐसे चश्मे बिकते हैं जिन्हें पहनने से साफ़-साफ़ दिखने लगेगा। मेरे पिता जो ख़ुद डॉक्टर थे यह मानने को तैयार नहीं हुए कि ऐसा कोई चश्मा नहीं है जो उनकी दृष्टि बढ़ा सके। हमारे घर जो भी आता उससे वे पटरियों पर बिकने वाले चश्मों के बारे में ज़रूर बात करते। कभी-कभी बच्चों के खिलौना-चश्मों को देखते तो जैसे एक हसरत से भर उठते थे। ...पर मुझे रह-रहकर यह आशंका होती है कि क्या मेरे पिता फेफड़े के कैंसर से पीड़ित थे? यह मैं कभी नहीं जान पाऊंगा।

❑ 20 सितंबर 1992

संस्कारों का एक संसार है। हिंदू धर्म में इतने संस्कार हैं कि जितने लोग उतने संस्कार। कोई कहता है यह संस्कार हमारे हिसाब से अधूरा है तो दूसरा कहता कि ऐसा शास्त्रों में लिखा ही नहीं है। पिता के निधन पर दही खाना वर्जित है और मां के निधन पर दूध पीना वर्जित। लेकिन अगर ये दोनों चीज़ें ब्राह्मण को दान कर दें तो दोनों की छूट मिल जाती है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मां ने जिस तरह बिना विचलित हुए और साहस के साथ अपने को बिखरने से बचाया उसे मैं महसूस करता रहा। बहनों में भी मुझे यही बात दिखाई दी। महिलाएं बीते हुए दुखों को भूलकर अपने को आते हुए दुखों के लिए तैयार कर लेती हैं। लेकिन मेरे भीतर जैसे कुछ टूट गया है। अकेलेपन का एक बहुत लंबा रास्ता है — एक पगडंडी, झाड़-झंखाड़ से घिरी हुई, जो दूर तक चली गयी है और उस पर अकेला मैं चल रहा हूं। पता नहीं यह कहां जाती है।

पिता जहां सोते थे वह पलंग मेरी बग़ल में ही है। इन दिनों मां उस पर सोती है। बीच में एक पुरानी मेज़ जिस पर दवाओं की कुछ ख़ाली कुछ अधभरी शीशियां, लालटेन, मोमबत्ती, कुछ चिट्ठियां, दो-तीन किताबें और पिताजी की पुरानी टॉर्च जिसे वे हमेशा अपने सिरहाने रखते थे। कमरे में एक रैक पर टॉनिक की कई बोतलें जो अब ख़ाली हैं, ख़ाली डिब्बे, गत्ते के टुकड़े, पुरानी पड़ चुकी दवाएं, बाम, विक्स की ख़ाली डिबियां और पुरानी किताबें। पिताजी किसी चीज़ को फेंकते नहीं थे। बिस्किट के ख़ाली डिब्बों को भी संभाल कर रख लेते थे। वृद्धावस्था में वे ख़ाली चीज़ों से भी जैसे कोई उम्मीद बांधने लगे थे। अब सब कुछ ख़ाली है। जो कुछ भरा हुआ है वह भी ख़ाली लगता है। ख़ाली शीशियों-बोतलों से निकला हुआ ख़ालीपन। अलादीन के चिराग़ से निकले हुए जिन्न की तरह। सब कुछ ख़ाली ख़ाली ख़ाली...

❑ 10 नवंबर 1992

जर्मनी के प्रसिद्ध लेखक हाइनरिष ब्यॉइल की कहानियां पढ़ रहा हूं। एक अद्‌भुत कहानी है : 'डॉ. मुर्के का मौन संग्रह'। एक अद्‌भुत और अर्थगर्भित मौन। यह हमारे हिंदी साहित्य में व्याप्त और व्यक्त मौन से कितना अलग है! डॉ. मुर्के जर्मनी के एक रेडियो स्टेशन का मुलाज़िम है और उसका काम है नेताओं और बुद्धिजीवियों के भाषणों-वार्ताओं के बीच में छूटने वाली ख़ाली जगह के छोटे-छोटे टेप के हिस्सों को काटकर उनका संग्रह करना। यह उसका काम नहीं, शौक़ है। काम तो वार्ताएं रिकॉर्ड करना है। लेकिन मौन के छोटे-छोटे टेपों में बहुत गंभीर, बारीक़ और राजनीतिक अर्थ छिपे हुए हैं। कहानी में उस दौर का एक बड़ा बुद्धिजीवी अपने कुछ पुराने रेडियो-भाषणों में संशोधन करना चाहता है क्योंकि अब राजनीतिक स्थितियां बदल गयी हैं और जिन राजनेताओं और महामहिमों के लिए उसने अपनी वार्ताओं में बड़े-बड़े सम्मानसूचक या जी-हुजूरी वाले विशेषण इस्तेमाल किये थे उन्हें अब वह बदलकर कुछ हल्का करना चाहता है। इस प्रक्रिया में अनेक जगह तीन या चार शब्दों के विशेषणों और संबोधनों की बजाय दो शब्दों के विशेषण डाले गये हैं जिससे एक या दो शब्दों की जगह ख़ाली छूट गयी है। मुर्के के लिए यह ख़ामोशी की जगह बहुत अर्थ रखती है और वह इसका एक अच्छा-ख़ासा संग्रह बना लेता है। यह मौन जैसे हमारे समय के बुद्धिजीवियों, लेखकों और विद्वानों की सिद्धांतहीन, अवसरवादी, लगभग बिकी हुई आत्मा की अभिव्यक्ति है। टेप के टुकड़ों में मौजूद ख़ामोश अंतरालों के माध्यम से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हाइनरिष ब्यॉइल कितने बड़े बौद्धिक हादसे की ख़बर हमें देते हैं! क्या यह हमारे समाज के बुद्धिजीवियों पर भी लागू नहीं होती?

इसी संग्रह में एक छोटी-सी कहानी है, लोककथा जैसी। 'मछुआरा और पयर्टक'। अमेरिकी मानसिकता पर, जो कि क़तई व्यावहारिक क़िस्म की होती है, इसमें गहरा व्यंग्य है। दरअसल यह आधुनिक जीवन और पारंपरिक या सभ्यता से दूर रह रहे जीवन की टकराहट की कहानी है। मैं इसे कई बार पढ़ गया हालांकि कृष्णमुरारी शर्मा का अनुवाद बहुत अच्छा नहीं है। इस कथा को अपने शब्दों में बतलाना कठिन है, फिर भी कहानी कुछ इस तरह है : एक नदी के किनारे एक शांत जगह में एक मछुआरा धूप में निश्चिंत लेटा है। तभी एक अमेरिकी पर्यटक वहां आता है और ऐसे सुंदर धूप में चमकते निर्जन में मछुआरे को सोया देखकर अपने कैमरे से फ़ोटो लेने लगता है। कैमरे की 'क्लिक' से मछुआरे की नींद टूटती है तो पर्यटक अमेरिकी सिगरेट उसे पेश करते हुए पूछता है कि क्या आप नदी में मछलियां नहीं पकड़ रहे हैं। मछुआरा कहता है कि मछलियां तो मैं सुबह पकड़ चुका हूं। पर्यटक कहता है कि लेकिन अच्छी धूप है और अगर आप मछलियां पकड़ रहे होते तो सोचिए आपके पास अब तक कितनी सारी मछलियां हो जातीं। मछुआरा जवाब देता है कि जनाब वह तो मैं कर चुका हूं और अब धूप में आराम कर रहा हूं। अमेरिकी पर्यटक फिर पूछता है कि ज़रा सोचिए, आराम करने की बजाय आप मछलियां पकड़ने में लगे होते तो कितनी सारी मछलियों के मालिक आप होते और उन्हें बेचते। मछुआरा पूछता है कि फिर क्या होता। फिर? आप धीरे-धीरे मोटरवाली नावें ख़रीदकर मछलियां पकड़ते। फिर? आपके पास ऐसी नावों का एक बेड़ा होता। फिर? फिर आप अपने नौकर रखते, अपना हवाई जहाज़ ख़रीदते और उससे मछलियां पकड़ने का मुआयना करते। मछुआरा हैरत से पूछता है कि फिर क्या होता। अमेरिकी पर्यटक कहता है : फिर आप आराम से लेटे रहते। इस पर मछुआरे का जवाब है : जनाब, यही तो मैं कर रहा था अभी। आपके कैमरे ने मेरी नींद तोड़ दी।

❑ **15 नवंबर 1992**

सचमुच कैसा गुरुतर भार मुझ पर आ पड़ा है। प्रभाष जी ने कहा कि जब आपके पिता नहीं रहते तो पता चलता है कि अब आप पिता हैं। सचमुच पिताजी जब तक थे मुझे कभी अपने पिता होने का एहसास नहीं हुआ। भले ही वे कुछ करने में समर्थ नहीं रह गये थे और उनका जीवन लगभग पूरी तरह मुझ पर निर्भर था, तब भी मुझे कभी यह ख़याल तक नहीं आया कि मैं ख़ुद दो बच्चों का पिता हूं। अब पिता के होने का एहसास हमेशा रहता है। अब जैसे वे जाते-जाते अपना एक दुख, एक भार मुझे सौंप गये हैं। मैं देखता हूं बच्चे बड़े हो रहे है। अपने नये-नये सवालों के साथ। मैं कवि-पत्रकार वग़ैरह हूंगा, लेकिन उनके लिए तो मैं सिर्फ़ पिता हूं, हालांकि मेरे लिए कोई पिता नहीं। मेरे मुंह से अब यह संबोधन हमेशा के लिए विदा हो गया है : पिताजी!

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

❑❑

उफ़, मैं क्या कहूं कि मेरे कितने-कितने काम अधूरे छूट गये हैं या फिर शुरू ही नहीं हो पाये। वे काम भीतर ही भीतर जमा होते जाते हैं। उन पर धूल जमती जाती है। कितनी धूल! इस बीच मैं पता नहीं क्या-क्या अजनबी निरर्थक करता जाता हूं जो मुझे नहीं करना था जिसके लिए मेरा जन्म नहीं हुआ था जो पता नहीं क्यों मुझे दे दिया गया। जो काम करने थे उनकी तरफ़ झांकता हूं तो धूल का एक बड़ा-सा ग़ुबार उठता दिखाई देता है। मैं घबराकर ढक्कन बंद कर देता हूं। सो जाओ, रात बहुत गहरी है। नींद भी एक ऐसा काम है जो तुम पता नहीं कब से करना चाहते हो। ...तब भी मैं लिखना तो चाहता हूं। कविताएं और एक उपन्यास तो लिखूंगा ही। एक उपन्यास के लायक़ सामान हरेक के जीवन में होता है। चाहे वह लेखक हो या न हो।

❑ 25 दिसंबर 1992

'आशिक़ हूं मैं माशूक़-फ़रेबी है मेरा काम
मजनूं को बुरा कहती है लैला मेरे आगे।'

ग़ालिब का यह शेर पढ़ते हुए मैं स्तब्ध-सा रह गया। जैसे सांस कुछ देर रुक गयी हो। यह उनकी मशहूर ग़ज़ल 'बाज़ीच-ए-इत्फ़ाल है दुनिया मेरे आगे' का एक शेर है। इसे ग़ालिब ने शायद दिल्ली पर अंग्रेज़ों के आक्रमण के दौरान लिखा था। लेकिन क्या हमारे आज के हालात भी यही नहीं हैं ? हर चीज़ उलट-पुलट हो रही है। जो जैसा दिखता है वैसा दरअसल नहीं है। एक स्वांग, एक पाखंड चारों ओर बढ़ रहा है। मनुष्यता की परिभाषा बदल रही है। झूठ सच की जगह ले रहा है। और क्या प्रेम स्वार्थ का ही दूसरा नाम नहीं हो गया है ? यानी आशिक़ का काम अब माशूक़-फ़रेबी है और लैला नाम की वह जो अमर प्रेमिका थी, अब मजनूं की निंदा करती है! ऐसे विपर्यय, ऐसे भयानक एहसास को ग़ालिब कितनी आसानी से, 'मैटर-ऑफ़-फ़ैक्ट' और वस्तुपरक ढंग से व्यक्त कर देते हैं। यही महान कला है और कितना बड़ा सत्य उसमें छिपा है।

❑ 1 सितंबर 1995

शमशेर ने अपनी डायरी में कहीं लिखा है : 'रात का काला बैल'। कितना अद्‌भुत है! रात जैसे एक बैल की शक्ल में आकर खड़ी हो गयी हो या उसके शरीर में सिमट आयी हो। निराला की एक कविता याद आती है : 'शिशिर की शर्वरी/हिंस्र पशुओं भरी'। यह भी कैसा बीहड़, रहस्यमय और सघन बिंब है जिसे हम 'देख' सकते हैं। कहीं पर पेड़ इस तरह लिखा हो कि पेड़ सचमुच दिखने लगे। हरा और कांपता हुआ रहस्य। यह शब्द का 'भौतिक' गुण है। शायद इसी बैल को शमशेर ने अपनी बाद की एक अद्‌भुत कविता 'बैल' में विस्तार दिया है जिसके अंत में वह 'बां-बां-बां' करता है और जिसे पूरी दुनिया

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

एक बैल की तरह नज़र आती है। शमशेर के इस 'बैल' के बारे में कब से एक लेख या एक टिप्पणी ही सही, लिखना चाहता रहा हूं। पर कैसी-कैसी चीज़ें हैं जिन पर कभी नहीं लिख पाता। 'बैल' कविता याद आते ही सामने एकाएक एक बैल का आभास होता है। पर ऐसा क्यों है कि कोई सचमुच बैल देखकर वह कविता मुझे याद नहीं आती ?

पोलैंड के एक महाकवि — वे महाकवि ही हैं — तदेऊष रूज़ेविच की चीन की दीवार पर एक कविता है। यह एक महान कविता है, जिसकी कुछ पंक्तियां हैं : 'दैट वाल प्रोवाइड्स ऐन ऑब्जेक्ट लेसन/ फ़ॉर द पीपुल अनेबल टु इमेजिन/ द नेचर ऑफ़ द इमेजिनेशन/ ऑफ़ रियलिटी'। यानी कि दीवार एक विषय-पाठ है/ उन लोगों के लिए जो यथार्थ की कल्पना/ के स्वरूप की कल्पना करने में असमर्थ हैं। क्या शमशेर का 'बैल' इसका एक उदाहरण नहीं है ?

❑ 2 सितंबर 1995

'हे प्रभो आनंददाता ज्ञान हमको दीजिए!' यह स्कूली प्रार्थना मैंने चौथी-पांचवीं में पढ़ी थी। इसे पता नहीं कितनी बार गाया होगा। यह हमारी स्कूली किताबों के आख़ीर में लिखी रहती थी। लेकिन प्रभु अगर आनंददाता हैं तो उनसे ज्ञान क्यों मांगा जा रहा है ? प्रभु जैसा दे सकता हो — या हमने उसे जैसा देने योग्य कल्पित किया हो, उससे क्या वही नहीं मांगना नहीं चाहिए ? यह पाखंड नहीं तो क्या है जो बचपन से ही हमें सिखाया जाता है या फिर यह छंदोबद्ध कविता की सीमा है ? इसी प्रार्थना में फिर आगे है : 'शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिए'। यानी बहुत शीघ्र। तुरंत। प्रभु एक चमत्कारी डंडा घुमायें और हमारी बुराइयां छूमंतर कर दें। दुर्गुण तो बेचारे प्रभु के कारण नहीं आते हैं, पर यह धर्म का ठोस भौतिक रूप ही है, जिसका एक अप्रतिम उदाहरण है सत्यनारायण की कथा।

❑ 4 सितंबर 1995

अजस्र अनंत अभेद्य बारिश। जैसे कई साल से कहीं रुका हुआ पानी हठात् छूट कर बहा हो। जैसे बादलों का दुख इतना भारी हो गया हो कि वे टूट और बिखर गये हों। यह बारिश जीवन की तरह है या किसी भीषण संवेग की तरह जो भीतर ही भीतर घुटा हुआ था। मैं उसे खिड़की से देखता रहा। चुपचाप। बारिश की आवाज़ को सुनता हुआ। पता नहीं क्यों पर मैं जैसे गूंगा हो गया। इस बारिश में मैं भीगता हुआ शायद कहीं दूर निकल जाना चाहता था। मैं महसूस करना चाहता था कि बारिश ही मेरा जीवन है, बारिश ही मेरा घर है, बारिश ही मेरा अंत है। मैं इस बारिश के बीचोंबीच एक सिगरेट सुलगाकर पीना चाहता था। मैं चाहता था बारिश में एक स्त्री का हाथ थामे हुए कहीं दूर निकल जाऊं। मैं गिरती हुई बारिश में उसे चूमना चाहता था। किसी अनंत की ओर जाता हुआ। अलौकिक आध्यात्मिक अनंत नहीं, बल्कि एक ठोस भौतिक अनंत। वैसे ही जैसे यह बारिश एक अनंत भौतिक उपस्थिति है। मैं सो जाऊंगा और यह मुझ पर बरसती रहेगी।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

❑ 5 मई 1996

अपनी प्रिय पुस्तकों की सूची बनाऊं तो शायद उसमें सबसे पहले आत्मकथाएं और संस्मरणों की किताबें होंगी। और वे भी ऐसे लोगों की जो पेशेवर लेखक या कवि नहीं हैं और शब्दों से इतर दूसरी विधाओं में काम करते हैं। जैसे, चार्ल्स चैप्लिन की आत्मकथा, जिसे कई बार मैंने पढ़ा है। और जापानी फ़िल्मकार अकीरो कुरोसावा की आत्मकथा — 'समथिंग लाइक ऐन ऑटोबायोग्राफ़ी' यानी आत्मकथा के आसपास या उस तरह का कुछ। फिर स्पानी फ़िल्मकार लुइस बुन्वेल की 'माइ लास्ट साइ' — अंतिम उसांस! और पोलैंड के फ़िल्मकार आंद्रेइ वायदा की 'डबल विज़न'। और एक हद तक स्वीडी फ़िल्मकार इंगमार बर्गमान (या बेरमान?) के संस्मरण — 'द मैजिक लैंटर्न'। और फिर सत्यजित राय के तमाम संस्मरण जिनमें से उनके बचपन के एक अंश का हिंदी में अनुवाद प्रयाग शुक्ल ने किया है : 'जब मैं छोटा था' यानी 'जेखोन आमि छोटो छिलाम'! और ऋत्विक घटक के लेखों की किताब : 'सिनेमा ऐंड आइ।' इटली के महान फ़िल्मकार फ़ेदेरीकी फ़ेलीनी की 'फ़ेलीनी ऑन फ़ेलीनी' और रूस के आंद्रेइ तारकोव्स्की की 'स्कल्पटिंग इन टाइम' ....ये सभी फ़िल्मकार लगता है भाषा के भी महान शिल्पकार हैं। वे जो कुछ लिखते हैं कितनी सचाई, कितनी आत्मा के साथ लिखते हैं और उनका हर वाक्य जैसे एक 'विजुअल' की तरह साफ़ और पारदर्शी होता है। उनका सिनेमा महाकाव्य है और उनकी भाषा भी। शायद भाषा लिखने के लिए 'साहित्यकार' होना ज़रूरी नहीं है। 'साहित्यकार' एक सीमित, सबसे कटा हुआ-सा शब्द लगता है।

❑ 10 मई 1996

यह कितना शांत क्षण है, मैंने सोचा। जैसे कई शांत परतें हों। शांति के भीतर बैठी हुई और भी गहन शांति। छोटी-सी, उसके छोटे-छोटे हाथ-पांव, छोटी-छोटी पवित्र आंखें। जैसे कोई शांत चिड़िया बहुत पास आकर बैठ गयी हो। यह शांत क्षण मेरे भीतर मेरी आत्मा में एक छतरी की तरह तना हुआ था। मैंने पूरी कोशिश की कि इस क्षण को नष्ट होने से बचाये रखूं। इससे पहले कि यह चिड़िया उड़ जाये, यह छोटी-सी छतरी बंद हो जाये, यह ठंढा मीठा और हल्का-सा झोंका बह जाये, यह दुर्लभ क्षण पिघलकर सामान्य जीवन में बिला जाये और अपना अस्तित्व समाप्त कर दे, मैं ऐसा कुछ करना चाहता था कि यह यहीं पर स्थिर हो जाये, जहां है वहीं रहे, बिना हिले-डुले, जैसे टिटहरी जो अदृश्य ढंग से पेड़ से चिपकी रहती है, अनवरत आवाज़ करती है और पता नहीं चलता कि वह कहां है। यह क्षण कितनी मुश्किल से आया है या कहीं से एक पत्ते की तरह टूटकर मेरे भीतर पहुंच गया है। चारों ओर फैले एक भीषण समय के बीच यह सबसे ज़्यादा संवेदित विंदु है, बहुत-सी गंदगी के बीच साफ़ पानी की एक बूंद या कहीं सड़ते हुए पानी के विरुद्ध एक छोटी-सी लहर। नहीं, यह किसी के विरुद्ध नहीं, बल्कि अपने आप में संपूर्ण है जो न किसी का निषेध करता है और न अपने को स्थापित करता है। लेकिन मैंने देखा कि यह कितना

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कठिन है। अगला ही क्षण एक विशाल गह्वर की तरह था जहां इस क्षण को तेज़ी से लुढ़क कर डूब जाना था।

मैं दिन में सोया रहा। शायद 'स्पोंडॉलोसिस' का तेज़ दौरा पड़ा था। उससे किसी तरह उबरा। आह-ऊह-वाह की। मालिश की। सीधा टेढ़ा तिरछा और औंधा होकर लेट गया। कुछ सुंदर चेहरों को याद किया। दवा खायी। फिर किसी तरह नींद आयी। डेढ़ घंटे बाद उठा तो एकबारगी लगा जैसे पता नहीं यह कौन-सी दुनिया है जिसमें मैं अभी-अभी जागा हूं। हर चीज़ अपरिचित। तभी उस क्षण को मैंने महसूस किया। एक नीरवता। कहीं पर्दे के हिलने या किसी कीड़े के रेंगने या नल से पानी की बूंद के टपकने की आवाज़ भी नहीं आ रही थी। कुछ ऐसी शांति जैसी बर्फ़ गिरते समय पहाड़ों में होती है। मैंने सोचा यह कितना अद्भुत है, कितने सौभाग्य से यह आया है। तमाम शोर कहीं पीछे रह गया है, भाषा भी कहीं नहीं है। मैंने मेज़ पर अपनी उंगलियों से कुछ आवाज़ पैदा की, तब भी उस क्षण की निविड़ नीरवता नहीं टूटी।

इसी बीच मेरी बेटी अल्मा की आवाज़ आयी। पता नहीं वह हंस रही थी या चिल्ला रही थी। उसके साथ मेरे भानजे की छोटी-सी बेटी कात्या की आवाज़ भी आयी। वे दोनों शायद छुपमछुपाई का खेल खेल रहे थे। वे खेलते-खेलते मेरे कमरे तक आ गये थे। मैंने अल्मा को बुलाकर कहा, 'देखो बेटा, यह एक बेहद शांत क्षण है और इसमें कोई शोर करना ठीक नहीं है क्योंकि यह कांच से भी ज्यादा नाज़ुक है और कभी भी टूट सकता है।' मेरी बेटी कुछ हैरान-सी हुई। उसने कहा , 'पापा, हम लोग तो कुछ नहीं तोड़ रहे हैं। हम तो बस खेल रहे हैं।' मैं उससे आगे कुछ नहीं कह पाया। क्या बच्चों की शांति का क्षण उनका वह खेल ही नहीं था?

❑ 11 मई 1996

हम कवि लोगों की दुनियाएं क्या प्रत्यक्ष, सार्वजनिक और मूर्त्त स्तर पर ख़त्म हो चुकी हैं? क्या वे अभिव्यक्ति के मुखर रूपों में नष्ट की जा चुकी हैं? किसी ख़ास तरह का कवि हो जाना भी हमारे भीतर कई कवियों की मृत्यु है। भीतर की ओर मरते रहने का बिंब पाब्लो नेरूदा की कविताओं में कई बार आया है। मैं एक ख़ास दृष्टि, एक ख़ास काट या शिल्प या शैली या एक ख़ास तरह की विषयवस्तु का कवि हूं यानी मेरे भीतर दूसरी विषयवस्तुएं मर चुकी हैं। संवेदनाओं की यह मृत्यु हमेशा भीतर की ओर होती है। पता ही नहीं चलता कि हमारे साथ हुआ क्या है। हमारी वे दुनियाएं कहां हैं? शायद वहां जहां से हम चले आये हैं। वे सिर्फ़ हमारी स्मृति में रह गयी हैं।

❑ 12 मई 1996

'अ' ने कुछ समय तक 'ब' से प्रेम किया। फिर विवाह। यह ख़ुशख़बरी मैंने 'स' को

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सुनायी तो उसने कहा 'चलो जी, अच्छा हुआ, बेचारा 'अ' बड़े दिनों से 'ब' पर मेहनत कर रहा था। मेहनत रंग लायी।' सुनकर मैं भौंचक्का रह गया। यानी अब ऐसा समझा जाता है कि प्रेम सिर्फ़ मेहनत का मामला है। आप किसी स्त्री के पीछे लगे रहें तो एक न एक दिन तो वह आपसे प्रेम करने ही लगेगी। बेचारी के पास क्या चारा है! हमारे दौर में प्रेम की भी यह हालत हो चुकी है। कुछ साल पहले मेरे एक मित्र ने विवाह किया तो इस पर एक युवा कवि की टिप्पणी थी, 'अच्छा, तो वे उसे ले उड़े!' कैसा प्रेम-विरोधी रवैया है!

❑ **6 अक्तूबर 1996**

कला प्रदर्शिनयों में जाकर विचित्र-सा एहसास होता है। लगता है जैसे कुछ संपन्न लोग किसी समारोह में इकट्ठा हुए हैं। मुस्कराते हुए चेहरे। कलाकृतियां भले ही किसी त्रासदी, शोक या हमारे समय की कुरूपता को चित्रित करती हों, लेकिन उन्हें देखने आये चेहरों पर एक चित्रलिखित मुस्कान रहती है। कलाकृतियां भी ज़्यादातर ऐसी कि आपके भीतर कोई उत्तेजना कोई प्रेरणा कोई हलचल पैदा न हो। वे आंखों की सतह पर ही थिरकती रहती हैं और जब हम घर लौटते हैं तो भूल चुके होते हैं कि हम एक कला-अनुभव के साथ थे। उन्हें देर तक या एकटक देखते रहने की तो इच्छा ही नहीं होती।

कुछ दिन पहले पिकासो के लेखों, टिप्पणियों और इंटरव्यू की एक किताब पढ़ी थी : 'पिकासो ऑन आर्ट'। उसमें एक जगह पिकासो कहते हैं कि रंगों को लेकर मैं हमेशा असमंजस में रहता हूं। सही अभिव्यक्ति के लिए सही रंग नहीं सूझता और कैनवस के सामने जब कोई रंग नहीं सूझता तो मैं काला रंग लगाने लगता हूं। लेकिन हमारे देश के कलाकारों की स्थिति इससे भिन्न है। वे अपने कैनवस को कितने रंगों से पोतते रहते हैं! लाल, पीला, हरा, नीला, बैंगनी और उसकी कई रंगतें वे तब तक लगाते रहते हैं जब तक सब कुछ काला न हो जाये। जैसे एक अखिल भारतीय रंग पुताई कार्यक्रम पूरे देश में चल रहा हो। चित्रकारों को उम्मीद रहती है कि रंग कला के बाज़ार को आकर्षित करेंगे। उन्हें पिकासो की तरह रंगों की विकट समस्या से नहीं जूझना पड़ता। सभी कलाकार ऐसे नहीं हैं, लेकिन ज़्यादातर तो ऐसे ही हैं। एक बार मक़बूल फ़िदा हुसैन के चित्रों की बहुत अच्छी प्रदर्शनी 'गैलरी एस्पास' वालों के घर में लगी थी जिसमें उनके बचपन की स्मृतियों के दृश्य थे। ज़्यादातर जलरंगों में। वह प्रदर्शनी मुझे अभी तक याद है। हुसैन 'इमोशंस' के सबसे बड़े चित्रकार हैं। शायद इसीलिए उनकी कई कृतियां ऐसी हैं कि आप उन्हें घंटों देखते रह सकते हैं।

कुछ बाज़ार और कुछ अपनी ख़ब्त के चलते हुसैन इन दिनों जो भी बेकार का काम कर रहे हों उसकी बात अलग है। लेकिन उस प्रदर्शनी की कई कलाकृतियां एक अजब उदासी छोड़ जाती थीं। वे मुझे अब भी याद हैं। एक चित्र हुसैन के पिता के दूसरे विवाह की स्मृति से संबंधित था। उसमें एक दुल्हन चटख़ रंगों में आ रही है, दाढ़ीवाले पिता हाथ में लालटेन लिये हुए उसे रास्ता दिखा रहे हैं और उनकी पीठ पीछे सिर्फ़ काली-

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सफ़ेद रेखाओं में बनी एक स्त्री जैसे कैनवस से बाहर जा रही है। इस पूरे दृश्य में एक छोटा-सा लड़का टोपी पहने खड़ा है। उसके चेहरे पर टोपी ज़्यादा प्रमुखता से दिखती है। अपनी मां की मृत्यु और नयी मां के आगमन का यह चित्र मुझे अब भी 'हांट' करता है। प्रदर्शनी के बाद शराब का दौर शुरू हुआ। हुसैन साहब से मैंने चित्रों की प्रशंसा की और फिर कहा कि आजकल की ज़्यादातर चित्रकला ऐसी लगती है जैसे कोई अखिल भारतीय रंग पुताई कार्यक्रम चल रहा हो। हुसैन अपनी भव्य धवल दाढ़ी में उत्फुल्ल हंसी हंसे, 'तो फिर इसे 'ह्वाइटवॉश' कर दिया जाना चाहिए।'

यह कुछ साल पहले की बात है, पर अकसर याद आती है। ख़ासकर तब जब किसी चित्र प्रदर्शनी में जाता हूं। प्रयागजी भी कभी-कभी इस जुमले को कोट करते हैं — रंग पुताई कार्यक्रम — जब उन्हें किसी कला प्रदर्शनी में कुछ ख़ास नहीं दिखता। पिकासो का एक वाक्य है : 'आई डोंट सर्च, आई फ़ाइंड ...' भारतीय कला में कितने लोग ऐसा करते होंगे ?

❑ 10 अक्तूबर 1996

मूर्तिशिल्पों की प्रदर्शनी। चारों ओर ख़ुशबू फैली हुई थी। तेज़ रोशनी के नीचे चमचमाते शिल्प। एक शिल्प हाथ बांधे खड़ा है। एक शिल्प खिलखिलाता है। एक शिल्प बंदर की तरह पेड़ पर चढ़ा हुआ है। एक शिल्प भिखारी की तरह दर्शकों की ओर अपना हाथ बढ़ाये हुए है। एक शिल्प कटे हुए सर की तरह पड़ा है। एक शिल्प उसे ख़रीदने वाले संभावित धनपति की तरह रोब से बैठा है। एक शिल्प इस सारे कार्य-व्यापार से अपनी पीठ फिराये हुए है। एक शिल्प अपने शिल्पी होने का उपहास करता खड़ा है। एक शिल्प में इतनी कठोरता भरी है कि जैसे उसे शिल्प में बदलना असंभव हो।

और लोककला ? वह किसी नवविवाहिता की तरह सजी-धजी बैठी है। वे पुराने घिसे हुए कपड़े यहां नहीं हैं जिनकी थिगलियां बनाकर यह कला निर्मित की गयी है। यहां वे सांवली, रात के रंग की औरतें नहीं हैं जिन्होंने अपने-अपने शरीर से उतारकर रातों को जागकर ये पोशाकें सिली होंगी। यहां वे उंगलियां भी नहीं हैं जिन पर मेहनत की गांठें पड़ चुकी हैं और दर्द करती हैं। यहां सिर्फ़ लोककला को छूती-टटोलती हुई कलात्मक उंगलियां हैं। रोशनी और संगीत है। और किसी आदिवासी औरत के फटे-पुराने कपड़ों से बनाया गया एक लहंगा कला-बाज़ार के प्रवेश द्वार के नक़ली प्रकाश में झलझला रहा है।

❑ 18 अक्तूबर 1996

पहाड़ अचानक दिखाई दिया। हालांकि वह कितनी ही बार मेरा देखा हुआ है फिर भी हर बार वह सहसा दिखाई देता है। जैसे एक बिलकुल नया पहाड़ दिख गया हो। कभी पीछे से झिलमिलाता है तो कभी ठीक सामने से चमक उठता है। मैं जैसे-जैसे इस पहाड़ी रास्ते पर उठता जाता हूं लगता है कहीं गहरे किसी बुनियाद में जा रहा हूं। और जब मैं घर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पहुंचता हूं तो लगता है पहाड़ का एक दरवाज़ा खोल रहा हूं। पहाड़ के भीतर खुलता हुआ पहाड़। पहाड़ों के माथे पर एक-एक आकाश रखा हुआ है। हवा वहीं रखी हुई है। पानी वहीं बह रहा है। पहाड़ हमारी आवाज़ को गुंजाते हैं। दुगना तिगुना कई गुना ऊंचा उठाते हुए। या फिर वह उनका अपना ही कोई गीत है जो हमें अवाक् कर देता है।

❑ 20 अक्तूबर 1996

मैं एक लंबे स्वप्न के सिरे पर देर तक खड़ा रहा। दूर कहीं किसी दूसरे छोर पर उसकी दो आंखें तारों की तरह चमक रहीं थीं। मैं चाहता था पहले वह मुझे आवाज़ दे। पहले वही पुकारे। हमारे बीच शायद कोई नदी थी जो एक आईने की तरह झिलमिला रही थी। ऊपर बहुत से बादल थे — नदी के कठोर तटों पर विकल चेहरों की तरह झुके हुए। मैंने सोचा प्रार्थनाएं ज़रूरी नहीं हैं, फूल ज़रूरी नहीं हैं, स्पर्श ज़रूरी नहीं हैं। मैं सिर्फ़ उसकी आवाज़ सुनना चाहता था। उसकी वह आवाज़ जो मेरे शरीर के रोओं में घास की तरह एक लहर पैदा करती थी। वह आवाज़ जिसमें चुंबनों और मृत्यु की पुकार थी। लेकिन मैंने देखा वह दूर जा रही थी। किसी नाव की ओर या नदी की काली गहराइयों की ओर। मैं खिड़की से देर तक झांकता रहा। यह ऐसा था जैसे अपने भीतर झांक रहा होऊं। वहां कुछ नहीं था। न कोई नदी न कोई किनारा। सिर्फ़ एक सपाट बियाबान।....प्यार मैं तुम्हारी गोद में बैठा हुआ बच्चा हूं। प्यार मैं तुममें से उपजा हूं। मैं कितना भी बड़ा हो जाऊं तुम्हारे लिए बच्चा ही बना रहूंगा जैसे एक मां के लिए उसका बच्चा अंत तक बच्चा ही रहता है, भले ही वह अधेड़ और बूढ़ा हो चुका हो।

❑ 7 नवंबर 1996

शमशेर की एक पंक्ति : 'मैं बैठा हूं त' बैठा ही रह गया हूं'। यह कैसा ख़याल है! क्या शमशेर किसी चिंतन में डूबे बैठे रह गये हैं ? या यों ही बेमक़सद, निःस्वार्थ, कुछ न सोचते हुए, देह और मस्तिष्क के अपने एक ख़ास विश्राम करने के स्वभाव के साथ ? या यह कोई दार्शनिक स्थिति है या फिर उठने की शक्ति नहीं रह गयी है और हो भी तो क्या होगा! ग़ालिब भी शायद यही बात कहते हैं : 'रही न ताक़त-ए-गुफ़्तार', और फिर आगे, 'और अगर हो भी तो किस उम्मीद पे कहिए कि आरज़ू क्या है'। ग़ालिब सवालों के, जिरह और संशय और विडंबनाओं के कवि हैं, पर उनके यहां निराशा की भी कितनी अंधेरी दुनिया है। निराशा वहां एक तरह के प्रतिरोध में बदल जाती है। लेकिन 'बैठा हूं त' बैठा ही रह गया हूं' में कुछ और ही बात है। सुख और दुख के बीच की, बैठने और चलने की इच्छा के बीच की कोई जगह। जैसी संगीत में एक सुर से दूसरे सुर के बीच श्रुतियों की जगह होती है। इस 'बैठा हूं' में एक शांति और निश्चिंतता है और 'बैठा ही रह गया' होने में एक गहरा विराग, जिसे रस-सिद्धांत में शायद निर्वेद की स्थिति कहा गया है। लेकिन इससे भी अधिक कुछ और है जिसे हम सिर्फ़ महसूस कर सकते हैं जो 'गूंगे का गुर भाई' है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अलग-अलग स्थितियों में अलग-अलग तरह से उसे 'फ़ील' किया जा सकता है। अच्छी कविता पता नहीं कब कहां अपने हज़ार-हज़ार अर्थों के साथ हमें ही व्यक्त करने लगती है।

कई बार यों ही बेकार और बेसुध बैठे और बैठा ही रहना चाहता हूं। किसी चट्टान पर, घास पर या पेड़ के तने से पीठ टिकाये हुए। कुछ न सोचता हुआ कुछ न चाहता हुआ। न नींद न स्वप्न न जागृति न गतिविधि। निश्चेष्ट। हमारे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त भले ही 'भारत भारती' में कह गये हों कि 'निश्चेष्ट होकर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है', लेकिन निश्चेष्ट बैठे रहने का सुख अद्‌भुत है। कई बार घर जाते हुए, किसी जगह पर थोड़ी देर सुस्ताने की गरज़ से मैं बैठा हूंगा और फिर देर तक बैठा रह गया हूंगा। बिना यह जाने कि बैठा हुआ हूं। आत्मविस्मृत। आसपास व्याप्त प्रकृति के बीच अपने आपको मुक्त सौंपता हुआ या फ़िर प्रकृति को भी भूल जाता हुआ। लगभग निर्वात में जहां सिर्फ़ इतनी हवा बची रह गयी है कि सांस लेने का सिलसिला चलता रहे। यह एक दुर्लभ क्षण है जब आप कहीं 'बाहर' नहीं होते, अपने ही भीतर रहने चले जाते हैं। लेकिन ऐसे क्षण कितने दुर्लभ हैं और कैसे हम अभिशप्त हैं कि चलते ही चले जाते हैं। चलो, चलते रहो, अंत में एक घटिया और मतलबी क़िस्म की जगह पहुंचोगे जहां तुम पाओगे कि सफल लोग काफ़ी पहले से आसन जमाये बैठे हैं।

फिर भी आत्मविस्मृति का जवाब नहीं। चीन में थांग राजवंश के तीन महाकवियों में एक थे ली पाइ। इस महान आत्मविस्मृति की अवस्था पर उनकी कई कविताएं हैं। एक कविता मुझे अशिम चौधरी ने सुनायी थी :

'दैट नाइट इट स्नोड इन द गार्डन ऑफ़ लीयांग
इट वाज़ कोल्ड बट यू वर अनकांशस ऑफ़ इट
नाउ आइ लुक ऐट द जेड ट्रीज़
एंड थिंक ऑफ़ द डेज़ गॉन बाय...

मैंने फिर ली पाइ की कविताएं खोजना शुरू कीं। कुछ मेरे पास एक संग्रह में थीं और कुछ त्रिनेत्र जोशी ने लाकर दीं। वह नौ साल चीन में रहा है। दरअसल थांग शासन काल के तीनों महाकवियों तू फ़ू, ली पाइ और वांग वेई को पढ़ना एक विराट अनुभव है। ली पाइ का नाम कहीं-कहीं ली पो भी लिखा गया है। ख़ैर, उनकी एक और अद्‌भुत कविता है :

'आय सैट ड्रिंकिंग ऐंड डिड नॉट नोटिस द डस्क,
टिल फ़ॉलिंग पेटल्स फ़िल्ड द फ़ोल्ड्स ऑफ़ माइ ड्रेस
ड्रंकन आइ रोज़ ऐंड वॉक्ड टु द मूनलिट स्ट्रीम
द बर्ड्स वर गॉन, एंड मेन ऑल्सो फ़्यू!'

कैसा महान बेसुधपन है! ली पाइ सम्राटों के दरबार में नहीं गया। वह विद्रोही था।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दुनियावी जंजाल को भूल जाना इस विद्रोह का एक लक्षण था। यह उसका हथियार था। ....ली पाइ की कविताओं के अनुवाद करने का मन है, लेकिन समस्या यह है कि मैं चीनी भाषा से क़तई अनजान हूं और पता नहीं ली पाइ का शिल्प और काव्य-विन्यास कैसा है। प्राचीन चीनी कविता का अंग्रेज़ी से अनुवाद करना अनर्थकारी भी हो सकता है। पूर्वी भाषाओं का स्वभाव पश्चिम की भाषाओं से बहुत भिन्न है। फिर भी कुछ उपाय करूंगा। कुछ साल पहले आयोवा के प्रेयरी लाइट्स बुक स्टोर से मैं एक किताब ख़रीद लाया था: 'प्राचीन चीनी कवयित्रियां'। अफ़सोस कि मैंने आज तक उसका एक पेज भी नहीं पढ़ा।

❑ 8 नवंबर 1996

मैं कुछ देर उसके पास बैठकर रोना चाहता था। मैं चाहता था वह सुने कि मेरी आत्मा में कैसा कोहराम कैसी विकलता कितना सुनसान है। मैं इस तरह रोना चाहता था जैसे पानी या पेड़ के पास बैठकर रो रहा हूं। स्त्रियां मुझे पानी पेड़ हवा जैसे जीवन तत्वों की तरह लगती हैं। उनके भीतर अथाह जलराशि है, कई जंगलों की निविड़ता है या वे हवाओं का घर हैं। मैं एक बच्चे की तरह बिलखना चाहता था जो कहीं अपमान सहकर आया हो। लेकिन मैं रोया नहीं। शायद वह उस रोने को नहीं समझ पायेगी क्योंकि रोना कोई अक़्लमंदी का काम नहीं है। क्योंकि वह यही नहीं समझ पाती कि वह ख़ुद क्या है। वह अपने स्वत्व को, अपने वास्तविक को पता नहीं कहां छिपाये रहती है। शायद तमाम औरतें छिपने की इस कला को जानती हैं। और पुरुष के रोने को तो आम तौर पर बुरा ही माना जाता है। उन्हें शायद पता नहीं होता कि पुरुष के भीतर भी एक स्त्री छिपी हुई होती है। मैं यह भी नहीं कह पाया कि देखो मेरे भीतर यह एक स्त्री है और यह कितनी विकल है। शायद दूसरी चीज़ों की तरह स्त्रियां भी अपने को भूल चुकी हैं। उन्हें उदास लोग पसंद नहीं हैं। वे अवसाद से प्रेम नहीं करतीं। उदास व्यक्ति के प्रति उनमें बस एक सहानुभूति-सी जागती है। सड़कों पर बाज़ारों में देखिए चहकते हुए नौजवनों के साथ खिलखिलाती हुई स्त्रियां तेज़ी से चली जा रही हैं। शायद इसीलिए स्त्रियों से मेरे संबंध कभी सहज नहीं हो पाये। मित्रता होती है, कुछ प्रकाश दिखता है, कोई दरवाज़ा खुलता है और फिर अंधकार हो जाता है। मुझमें यह पता नहीं क्या है कि मैं ही दरवाज़ा बंद कर देता हूं। लेकिन तब भी सच्चाई यह है कि मेरा जीवन मेरी सारी संवेदना स्त्रियों से गहरे जुड़ी है।

❑ 10 नवंबर 1996

कविता, कला वग़ैरह कोई विशेष योग्यता न होती बल्कि जीवन की विशेषता होती तो सभी मनुष्य कलाकार होते। वे अपना मनचाहा संसार निर्मित करते। हरेक क्रिया कला होती और जीवन रचना होता। तो क्या होता? बेचारा उम्मीद सिंह कलादीर्घा में जाकर अपना आपा क्यों खोता!

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

❑ 11 नवंबर 1996

कौन-सी उम्मीद है कि बेकार हो चुकी बहुत सारी चीज़ों को संभाल कर रखता हूं। ख़राब पड़े पेन, खो चुकी क़लमों के ढक्कन, स्याही की खाली रीफ़िलें, घिसे हुए रबर, पुराने बैटरी सैल और अधलिखी और लिखी हुई चिट्ठियां जिन पर टिकट लगे हैं जिन्हें मैं कभी पोस्ट नहीं कर पाया। ऐसी ही कई चीज़ें। इनमें वे घिसी हुई पेंसिलें सबसे ज़्यादा हैं जो अब बच्चों के लिए बेकार हो चुकी हैं जिन्हें वे घिस चुके हैं और नयी साबुत पेंसिलों की ओर चले गये हैं। मैंने डिब्बों में देखा, इतनी ज़्यादा पेंसिलें थीं कि उनसे एक मीलों लंबी पेंसिल बन सकती थी। इन नन्ही पेंसिलों से मुझे पता नहीं क्यों एक आश्वस्ति, एक संतोष, एक उम्मीद का अनुभव होता है। मैं उन्हें फेंकता नहीं क्योंकि शायद अंत में यहीं चीज़ें मेरे कुछ काम आयेंगी। क्या इन पेंसिलों में बच्चों का अतीत, उनका सरल बचपन, उनकी बीती हुई उम्र छिपी है ? मुझे वे जादुई चीज़ें लगती हैं। जीवन से दूर लेकिन अपना शेष जीवन जीती हुईं।

❑ दिसंबर 1996

मार्क्सवाद का विरोध आजकल हर कहीं है। जो कोई भी आता है उसे एक चपत लगाकर चला जाता है। बल्कि विरोध नहीं, एक प्रसन्नता है कि चलो यह तो समाप्त हुआ। तुर्रा यह है कि ऐसा मानने वालों में कुछ मार्क्सवादी भी हैं जो बाहर से किन्हीं पार्टियों के सदस्य हैं लेकिन भीतर से क्या हैं, यह शोध का विषय है। कुछ भूतपूर्व मार्क्सवादी भी हैं। कुछ ऐसे हैं जो 'तत्काल मार्क्सवाद नहीं तो कुछ नहीं' वाले विचार के हैं। दुख यह कि ऐसे ज़्यादातर लोगों के लिए मार्क्सवाद की सत्ता ही मार्क्सवाद था। यानी कम्युनिज़्म या सोशलिज़्म की राजसत्ता, सर्वहारा के नाम पर उसकी सरकार, उसका संगठन, नीति, विदेश नीति आदि। मसलन, सोवियत संघ की विदेश नीति भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का मार्क्सवाद थी। मार्क्सवाद के नाम पर चलने वाली राजसत्ताएं जब ध्वस्त हुईं तो मार्क्सवाद भी उनके लेखे समाप्त हो गया। उनका विचार इतना कमज़ोर था कि वह सत्ता के मलवे में दब गया।

❑❑

एक ज्योतिषी से मैंने यों ही अपने बारे में बातें पूछीं। उसने कहा कि तुम रात में जो कुछ लिखोगे उससे बहुत नाम कमाओगे। सुनकर मुझे हंसी आयी। रात में कोई कब तक लिख सकता है ! कभी-कभी लगता है मैं रात में सोना बंद करके लिखता ही चला जाऊं तो शायद ज्योतिषी की बात सच निकले। लेकिन रात भर जागनेवाला या तो कोई प्रेमी ही हो सकता है या कोई जुआबाज़, चोर, ठग और लुटेरा। या फिर कोई आततायी। और गीता का वह श्लोक भी तो है जिसमें कृष्ण कहते हैं : 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी...'। लेकिन मैं इनमें से कुछ नहीं हूं।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

❑❑

कविता एक सुंदर जगह है या एक अच्छी जगह है ? एक सौंदर्यशास्त्रीय जगह या एक नैतिक जगह ? यह बहस शायद हमेशा रहेगी। लेकिन नैतिक जगह ही तो सुंदर जगह होती है। एक ऐसी जगह जहां जाते हुए आप कुछ सहमते हों, आप को सिहरन होती हो, आप उसे छुयेंगे नहीं गंदा नहीं करेंगे ...कृपया कविता से अपनी नाक पोंछने का काम न करें।

❑❑

हालत यह है कि मेरी हालत ठीक नहीं। ग़ालिब की तरह 'छूटती नहीं क़ाफ़िर मुंह की लगी हुई'। हालांकि मैं कहां का ग़ालिब हुआ ! पीता हूं तो मेरा दिमाग़ पारे की तरह चंचल और ढुलमुल हो जाता है। कहीं एक जगह नहीं टिकता और जैसे अपनी ही एक परिधि पर तेज़ी से घूमने लगता है। वरना मैं प्राय: स्थिर और बंद पानी की तरह पड़ा रहता हूं : सुस्ताता और कभी-कभी सड़ता हुआ।

❑ 1997

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने 'दस्तावेज़' का एक बहुत अच्छा अंक निकाला है : बांग्ला कवि शक्ति चट्टोपाध्याय की मृत्यु पर। इसमें हालांकि सभी लेख बांग्ला पत्रिका 'देश' में छप चुके हैं, जहां शक्ति काम करते थे। फिर भी शक्ति पर हिंदी में इतनी सामग्री कहीं और देखने को नहीं मिली। इसमें सुनील गंगोपाध्याय का भी एक लेख है जो शक्ति के साथ भूखी पीढ़ी आंदोलन में भी रहे थे। इसके बाद सुनील कहानी-उपन्यास लिखने लगे, लेकिन शक्ति कविता ही करते रहे। इस संस्मरण में शक्ति एक जगह सुनील को लिखते हुए देखकर कहते हैं : 'अरे शक्ति, गद्य गद्य गद्य! इतना गद्य क्यों लिखते हो ? पागल हो जाओगे।' वाक़ई इतना गद्य क्यों लिखा जा रहा है ? और इतना ख़राब गद्य। हिंदी में भी लोग मार तमाम गद्य लिख रहे हैं। बहुत बड़ी संख्या में गद्य के बैल। उनके गले में क्या कविता की घंटियां नहीं बांधनी चाहिए ?

❑ 27 जून 1997

सुरेंद्र प्रताप सिंह का जाना टेलीविज़न के तनाव, दबाव, उसके आक्रमण की ज़द में आये व्यक्ति का जाना है। टी.वी. मृत्यु एक नयी तरह की मृत्यु है जो हमारे ज़माने में ही ईजाद हुई है।

❑ 30 जून 1997

अच्छे संगीत तुम बच्चों की नींद में चले जाओ। बुरे संगीत तुम सड़कों के शोर में मिल

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जाओ। अच्छी कविता तुम बूढ़े लोगों के जागरण में जाओ। बुरी कविता तुम किसी उपभोक्ता वस्तु का विज्ञापन बन जाओ।

❑❑

फ़िल्म का कैमरा पचास या सौ साधारण दृश्यों से एक साधारण दृश्य को फ़ोकस में ले आता है। वह कोई पृथक या विशिष्ट दृश्य नहीं है। बल्कि तमाम दृश्यों का एक हिस्सा है। दृश्यों में से एक दृश्य है। कविता भी शायद इसी तरह एक दृश्य को निकालकर दिखलाती है। यह दिखलाना ही उसका अर्थ है। कोई इसे देखे तो देखे। वरना अगले ही क्षण वह अन्य दृश्यों में जाकर मिल जायेगा।

❑ जुलाई 1997

एक-दूसरे का हाथ थामे हुए हम कुछ दूर तक गये। जैसे अपने-अपने अलग बचपन की ओर जा रहे हों। शाम थी और एक छोटा-सा तरल आसमान था और हम दो बादलों की तरह थे। बचपन का एक छोटा-सा जंगल जिसे हमने बिना गुम हुए पार किया। एक पतली-सी घुटनों से नीचे तक की नदी थी जैसे वह नदी का बचपन हो जिसमें हमारे पैर भीगते ही रहते थे। घूमने-भटकने के लिए एक पूरी उम्र थी। बीच-बीच में हवा चलती थी और वह सब कहती हुई प्रतीत होती थी जो हम एक दूसरे से नहीं कह पा रहे थे। हवा के झोंके हमारे अनकहे शब्द थे। उजाले की स्मृति जैसा एक उजाला था। उस उजाले में मैंने देखा उसके भीतर बारिश थी, घास के मैदान थे, सीढ़ियां थीं जो दूर तक चली गयी थीं। शायद एक कमरे की ओर, जहां उसका अपना एक चंद्रमा था अपने तारे और अपने सौरमंडल थे। यह सब उसके भीतर मैंने चुपचाप देख लिया। हालांकि उसने मुझसे यही कहा कि सिर्फ़ अंधेरा है और घास का मैदान नहीं बल्कि एक दलदल है जिसमें धीरे-धीरे पैर धंसते हैं और वहां तारे नहीं ज़मीन पर गिरे हुए पत्थर हैं और सीढ़ियां नहीं हैं बल्कि एक ख़ालीपन है एक शून्य एक कुछ नहीं और कमरा नहीं एक गोल ग़ुंबद है जहां से सिर्फ़ अपनी ही प्रतिध्वनि लौटती है। मैं चुपचाप उसकी ओर देखता रहा। मैंने जो कुछ कहा वह भाप की तरह हवा में विलीन हो गया जबकि उसके आंसू देर तक उसके गालों पर और फिर ज़मीन पर भी चमकते दिखाई दिये।

❑❑

कई सारी चीज़ें मिलते ही खो गयीं। कुछ चीज़ें मेरे पास बची हैं जो बचपन में मिली थीं। यह और बात है कि बचपन मिलते ही खो गया था। अब अंधेरा एक पुराने पड़ोसी की तरह जब-तब मिल जाता है या मिलने चला आता है। कभी लिखूंगा इस बारे में भी।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

❑❑

कुछ समय पहले इस तिकोने और क़रीने से रखे गये पार्क में उस जगह मेरे एक परिचित वृद्ध की मृत्यु हुई थी जहां अब उनकी स्मृति में सफ़ेद रंग की एक बेंच लगा दी गयी है। परिवारजनों ने यह अच्छा काम किया है। पार्क में बैठने के लिए इससे कुछ और जगह हो गयी है। एक किनारे हरे पेड़ों कटी-छंटी झाड़ियों मौसमी फूलों और कहीं हरी कहीं जली हुई घास के बीच आज सुबह इस बेंच पर मैंने तीन बूढ़ों को आपस में झगड़ते हुए देखा। फिर दिन में जब छांह आ गयी तो एक गर्भवती युवती शायद घर के काम निबटाने के बाद वहां बैठकर सुस्ताती दिखाई दी। शाम को एक प्रेमी जोड़ा वहां काफ़ी देर तक आहिस्ता-आहिस्ता बात करता मुस्कराता रहा। युवक लगातार युवती की ओर देखता था और युवती ज़्यादातर पेड़ों की तरफ़ देखती थी। रात में वहां मोहल्ले की कुछ बूढ़ी स्त्रियां खाना खाने बैठीं। उनके चारों ओर रात की सैर पर निकले लोग टहल रहे थे। मैं घर की बालकनी से देर तक यह दृश्य देखता रहा। उन परिचित की स्मृति में लगी इस बेंच के आसपास इतनी तरह की गतिविधि एक विचित्र-सा एहसास था।

❑ 10 अगस्त 1997

तेज़ी से मेरे बाल उड़ रहे हैं। सर के बीचों-बीच से। जैसे मैदान छोड़कर भाग रहे हों। कानों और गर्दन के पास लेकिन वे बढ़ते रहते हैं। एक ज़माने में मेरे बाल कितने घने और कोमल थे। कुछ लड़कियां भी मुझसे यह कहती थीं। पर अब कानपुर या देहरादून के एक व्यक्ति हैं, जो कभी डॉक्टर नहीं रहे, बल्कि किसी कंपनी में कोई कर्मचारी थे, सर पर बाल उगाने की दवा ईजाद करने का दावा करते हैं। वे अपने बारे में पत्र-पत्रिकाओं में छपवाना चाहते हैं— शायद अपनी ईजाद को पेटेंट कराने की उम्मीद में— और काफ़ी भागदौड़ कर रहे हैं। 'जनसत्ता' में हमने कुछ छापा भी है। वे जब कभी आते हैं कुछ दबी आंखों से मेरे बालों की ओर देखकर कहते हैं, मेरे लायक़ कोई काम हो तो बताइए। मैं धन्यवाद कह देता हूं। कभी-कभी मुझे उन्हें देखकर नाई की याद आती है। आपके बालों की ओर देखकर नाई को जो उम्मीद होती है उससे कितनी अलग और उलट है यह!

❑ 14 अगस्त 1997

कुछ अजब तरीक़े की, वायवीय, वाष्पीय, लोकोत्तर, अलौकिक, पराभौतिक और पारलौकिक क़िस्म की कविता इन दिनों दिखाई देती है। 'आत्मा की आंख में निवास करता हुआ या रोता हुआ प्रागैतिहासिक ईश्वर'—सरीखी कविताएं। इनका स्वाद विचित्र-सा है। एक बासीपन या सीलापन जिसे एक 'फ़िनॉमेनन' की तरह पेश किया जा रहा हो। इसकी जड़ें कहीं पश्चिम में ही हैं। जैसे फ़्रांस वग़ैरह में, जहां कविता इहलोक से विछिन्न होकर सिर्फ़ एक भाषिक और आत्मिक कल्लोल रह गयी है। इधर के कुछ फ़्रांसीसी कवियों को छिटपुट पढ़ते हुए मुझे लगा कि वह भले ही आध्यात्मिक या आंतरिक एकालाप की तरह

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दिखती हो, है वह एक 'ब्रांड' ही। ईव्स सां लरां के फ़ैशन या मों ब्लां के फ़ाउंटेनपेनों या पर्स या टाई के ब्रांडों की तरह। वह चारों ओर भीषण भौतिकता का निषेध नहीं करती, बल्कि उसके बीच प्रसन्नतापूर्वक अपनी अलौकिकता करती रहती है। शेष समाज से उसका कोई संवाद नहीं है। क्या ऐसी ही कविता हमारी हिंदी में भी आ गयी है? उसमें ईश्वर से सीधी मुलाक़ात है। बीच में समाज कहीं नहीं है। यह आश्चर्यजनक है और कविता, स्वप्न और स्मृति के तर्क जहां तक जा पाते हैं उनसे भी परे लगती है। वह ऐसी चीज़ों से, जो कि पहले से ही रहस्यमय हैं, एक नया रहस्य बुनती है। लेकिन ठोस भौतिक, अपने भार और आयतन वाली चीज़ों में भी रहस्य होता है और कविता इसी भौतिकता के रहस्य में निवास करती है। वह भूगोल में रहती है या उस वस्तु, जगह और समय के जादू को खोजती है जो रहस्य अगर न हो तो निरा भौगोलिक वर्णन होगा। यह भी कह सकते हैं कि कविता चीज़ों के भूगोल का एक एंद्रीय, रोमांचक, जादुई, सम्मोहक और कभी-कभी गोपनीय वर्णन है। कितना कठिन और कितना आनंददायक है भूगोल के ब्यौरों को उनकी मांसलता में चित्रित करना! उसमें पेड़, पहाड़, हवा, नदी, पानी, बादल, बर्फ़ और आकाश ही नहीं, स्त्रियों के होंठ और स्तन ही नहीं, क़लम, तंबाकू, चाय और टमाटर जैसी चीज़ें भी एंद्रीय अनुभव बन जाती हैं। पाब्लो नेरूदा, नाज़िम हिकमत, निराला जैसे कवियों की महानता शायद यही है।

❑ अगस्त 1997

'रुग्ण तन भग्न मन / जीवन विषण्ण वन।' निराला की ये पंक्तियां कभी यों ही चलते-चलते याद आ जाती हैं। निराला शारीरिक व्याधि और मानसिक संताप को कितने गद्यात्मक ढंग से और कैसी अपूर्व काव्यात्मकता के साथ बतलाते हैं। और फिर, जीवन एक विषण्ण वन है। विषाद से भरा हुआ जंगल। विषण्णता के लिए वन जैसी सघन, विस्तृत और रहस्यमय उपस्थिति का प्रतीक। विषण्णता का अर्थ है उदासी, दुख, अवसाद, विषाद। इसे व्यंजित करने के लिए वन से ज़्यादा समर्थ प्रतीक क्या हो सकता है! और इन उदास पंक्तियों में कैसा संगीत है। चाहें तो आप इसे गुनगुना सकते हैं। लेकिन ख़ास बात यह है कि निराला अमूर्त्तन को व्यक्त करने के लिए अत्यंत मूर्त्त संसार की ओर जाते हैं या मूर्त्त संसार के वर्णन के लिए अमूर्त्तनों का सहारा लेते हैं। यह द्वंद्वात्मक प्रकिया उनके यहां अद्‌भुत है। जीवन के विषण्ण वन को हम पूरी तीव्रता से महसूस कर सकते हैं। विचलित कर देने वाली भौतिक उपस्थिति की तरह। दृश्यों की रहस्यमयता, दृश्यों का आनंद और दुख निराला में जितना मिलता है, उतना क्या कहीं मिलेगा! निराला का एक और गीत याद आता है : 'शिशिर की शर्वरी/हिंस्र पशुओं भरी।' हम देख सकते हैं कि शिशिर की रात किस तरह वनैले पशुओं से भरी हुई है, वह रात हमें घेरे हुए लगती है। निराला के यहां कितना बड़ा सिनेमा है। इस तरह की कितनी ही अभिव्यक्तियां हैं। उनकी एक सूची बनाई जाये तो कितनी बड़ी दुनिया प्रकट होगी!

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

❑ अक्तूबर 1997

इन दिनों ग्रीक कवि कवाफ़ी की एक प्रसिद्ध कविता 'बर्बरों की प्रतीक्षा' की कुछ पंक्तियां याद आती हैं, जिसका अनुवाद कुंवरनारायण जी ने किया था। उन पंक्तियों का आशय कुछ इस तरह है : 'सभागार में बैठे हुए हम किसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं / बर्बर आज यहां पहुंचने वाले हैं... जब एक बार बर्बर यहां आ जायेंगे तो वे ही क़ानून बनायेंगे।' कुछ ऐसे ही डरावने माहौल की आहट इन दिनों है।

आर.एस.एस. के तथाकथित 'बुद्धिजीवी' गोविंदाचार्य और ब्रिटिश हाई कमीशन के एक उच्च अधिकारी की बातचीत अख़बारों में छपी है। इसे पढ़कर स्तब्ध रह गया। क्या भीषण दोमुंहापन है। इसी में अटल बिहारी वाजपेयी को 'मुखौटा' और 'भोंपू' वग़ैरह कहा गया है। गोविंदाचार्य बातचीत में अपने को आर.एस.एस. का अंदरूनी आदमी बतलाते हुए कहते हैं कि मैं जो कुछ कहता हूं वही प्रामाणिक है। एक जगह ब्रिटिश अधिकारी उनसे पूछता है कि आप स्वदेशी आंदोलन चला रहे हैं तो फिर भारत में बहुराष्ट्रीय निगमों के बारे में आपका क्या रवैया होगा। आपकी सत्ता आने पर उनके लिए तो समस्या पैदा हो जायेगी। गांधीजी के 'स्वदेशी' नारे को चुराकर उसकी पैरोडी-सी करने वाले इन महोदय का जवाब देखिए। वे कहते हैं : 'आपकी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हितों को कोई नुकसान नहीं होगा (अगर सत्ता में आये तो!), हम उनका स्वागत करेंगे। स्वदेशी आंदोलन तो भारत की जनता को भरमाने के लिए है। हमारे उद्देश्य स्वदेशी नहीं हैं।' यह हुआ 'डबल-स्पीक' का नायाब नमूना! यानी खाने के दांत और, दिखाने के और! ज़रा कल्पना कीजिए, ये लोग अपने एकांत में क्या-क्या तिकड़में सोचते होंगे और बाहर समाज के साथ क्या-क्या चालें चलते होंगे! और फिर नैतिक या आदर्शवादी होने का कितना बड़ा पाखंड! ये लोग समाज को कहां ले जायेंगे? हमारी राजनीति ने अपनी नैतिक जगहें नष्ट कर दी हैं। आत्मा को कुचल डाला है। उसकी जगह बचा है एक नृशंस दोमुंहापन। बल्कि कई-कई मुखौटे, कई तरह के दांत और जीभें, कई तरह के क्रूर भेस और ताक़त के स्वांग। और ये लोग कितना कुछ हमारे समाज में नष्ट कर चुके हैं। राजनीति के तमाम मूल्यों के शव जैसे मैदान में पड़े हैं और गिद्धों का दल उतरने-उतरने को है।

लेकिन मुखौटों की भी कितनी मुसीबत है! बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की एक छोटी-सी कविता है : 'शैतान का मुखौटा', जिसमें दीवार पर शैतान के मुखौटे की एक जापानी उकेरन टंगी हुई है, उस पर सोने की पालिश है और उसके माथे की नसें तनाव से फूली हुई हैं। कविता के अंत में ब्रेष्ट कहते हैं कि शैतान बनने में भी कितनी यंत्रणा है!

❑❑

हाल ही में क्यूबा के एक कवि और विचारक रॉबेर्तो फ़ेरनांदो रेतामार—यह नाम अफ़सोस कि पहले कभी नहीं सुना—का एक अद्‌भुत इंटरव्यू पढ़ने को मिला। नाम है : 'ऐसे ही

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

समय में हमें जीना है।' डॉ. मैनेजर पांडेय ने बहुत अच्छा अनुवाद किया है। रेतामार ने इस लंबी बातचीत में समाजवाद के रूसी मॉडल के ढहने, विश्व साम्राज्यवाद, नवउपनिवेशवाद, अमेरिकीवाद, एकध्रुवीय दुनिया और शीत युद्ध की समाप्ति के बाद शुरू हुई 'शीत शांति' पर बहुत मौलिकता और शिद्दत के साथ विचार व्यक्त किये हैं। इस तरह कि हम इस अतिपरिचित शब्दावली को नये अर्थों में देखने लगते हैं। एक जगह वे कहते हैं : 'ज़रा सोचिए पिछले कुछ वर्षों में अमेरिका ने वियतनाम, मध्य-पूर्व के देशों और दूसरी जगहों पर जो कुछ किया है वह अगर नहीं किया होता तो यह दुनिया ज़्यादा सुंदर होती।' और एक जगह वे कहते हैं, यह एक विडंबना ही है कि अमेरिका जहां कहीं कुछ करना चाहता है आसानी से नहीं कर पाता। उसके रास्ते में अनेक बाधाएं आती हैं।

ब्रेष्ट का 'शैतान का मुखौटा' फिर से याद आता है!

❑ अक्तूबर 1997

पचासवें वर्ष में विस्मृति शुरू हो गयी है। कई चीज़ें जिन्हें मैं बहुत संभाल कर, एहतियात से रखता हूं वे समय आने पर खोजे नहीं मिलतीं। ऐसी चीज़ों में ज़्यादातर काग़ज़ होते हैं जिन्हें खोजने में बहुत समय बर्बाद होता है और मैं हताशा से भर उठता हूं। कभी लगता है मैं काग़ज़ों के भयावह अंबार से घिर गया हूं। घर, दफ़्तर, सब जगह काग़ज़ ही काग़ज़। पता नहीं उनमें क्या लिखा है। उनके शब्द आपस में गडमड हो गये हैं। शब्दों और भाषा की कितनी फ़िज़ूलख़र्ची। उन पर धूल जमी हुई है। कुछ ही काग़ज़ों को उलटने-पुलटने के बाद साबुन से हाथ धोने पड़ते हैं। मेज़ की हर दराज़ में ठुंसे हुए काग़ज़ और किताबें। जैसे यही काग़ज़ एकजुट होकर ज़िल्दों के भीतर चले गये हों। इनमें कितनी ही किताबें अनपढ़ी रह गयी हैं। शायद मैं उन्हें कभी नहीं पढ़ पाऊंगा। शायद वे ऐसे ही धूल में बदल जायेंगी। कंप्यूटर-संस्कृति ने ऐसे काग़ज़ों का पारावार और भी बढ़ा दिया है जो ज़िल्द में बंधे नहीं होते और जिन्हें संभालकर रखना मुश्किल काम है। इन्हीं काग़ज़ों में वह बहुत ज़रूरी काग़ज़ कहीं दबा रहता है जिसे खोजने के लिए दिमाग़ खीझता रहता है। मृत्यु भी जैसे एक काग़ज़ पर लिखी हुई मुझे कहीं मिलेगी।

इसी तरह लोग भी हैं। उनके चेहरे धुंधलाती तस्वीरों की तरह या लकीरों की तरह हैं। वे पुराने आईनों की तरह जैसे एक धुंध में से उभर कर आते हैं। याद आता है उनसे कभी मिला था लेकिन उनके नाम मैं भूल चुका हूं। और कई लोग तो जैसे यह कहकर परीक्षा-सी लेते हैं कि मुझे पहचाना, बताइए मैं कौन हूं? प्राय: ऐसा होता है कि कुर्ते-पाजामे में मिला कोई व्यक्ति अगर कुछ दिन बाद कोट-पैंट पहने हुए मिले तो मैं एकाएक उसे पहचान नहीं पाता। दफ़्तर में इतने बेरोज़गार पत्रकार, महत्वाकांक्षी या सचमुच कुछ करने के लिए बेचैन रचनाकार आते हैं। उनके हाथों में उनकी रचनाएं मुझे झंडों की फहराती हुई दिखती हैं। उन सबके नाम कैसे याद रखे जायें! उनसे मिलना इस तरह होता है जैसे नदी के दूसरे किनारे पर किसी को देख रहे हैं। या फिर वे टीवी के दृश्यों की तरह

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हैं : लगातार गतिशील बिंब जो दिमाग़ में बिना कोई अक्स छोड़े हुए गुम हो जाते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि कोई किताब या कोई और चीज़ जो मुझे दफ़्तर ले जानी होती है उसे मेज़ पर ही भूल जाता हूं। कभी-कभी सुबह सब्ज़ी की दुकान पर दूध भूल जाता हूं तो कभी दूध की दुकान पर सब्ज़ी। वह किताब जो कल तक मेज़ पर रखी थी कहां गयी, चिट्ठियां पढ़ते-पढ़ते कहां रख दीं या किस-किस को पत्रों का जवाब देना था याद नहीं आता। चश्मा खोजने के लिए किताबों के रैक या मेज़ की ओर हाथ बढ़ाता हूं तो पता चलता है वह पहले से ही मेरी आंखों पर लगा है। कमरे की रोशनी कल जैसी दिखी थी, आज उससे अलग कुछ अजीब सी दिखती है। किसी जगह पर अगर कोई ख़याल मन में आता है तो उसे दूसरी जगह जाकर भूल जाता हूं। फिर जब लौटकर उसी जगह वापस आता हूं तो कई बार वह ख़याल फिर से दिमाग़ में लौट आता है। यही विस्मरण है, जो वैसे इस देश में सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक स्तर पर जानबूझ कर एक षड्यंत्र की तरह फैलाया जा रहा है लेकिन वह व्यक्तिगत स्तर पर भी सक्रिय है। साहित्य में भी यह ज़ोरों पर है। लोग जैसे लोगों के विस्मृत हो जाने की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

लेकिन यह मुझे क्या हो गया है! एक अरसे से दिमाग़ जैसे किसी गड्ढे में दबा हुआ है और हवा चलने से सिर्फ़ रेत उड़ती है। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' में मनु कहते हैं : 'विस्मृति आ अवसाद घेर ले/नीरवते बस चुप कर दे/चेतनता चल जा जड़ता से/आज शून्य मेरा भर दे।' एक समय था जब मेरी स्मृति बहुत प्रखर थी। मुझे 'कामायनी' के अनेक अंश याद थे और 'आंसू' और कालिदास का 'मेघदूत' तो आदि से अंत तक कंठस्थ था। अब याद करता हूं तो 'मेघदूत' के मंदाक्रांता छंद की एक पंक्ति किसी दूसरे श्लोक की तीसरी पंक्ति से जुड़ जाती है। मसलन, पूर्व मेघ की यह पंक्ति 'जातं वंशे भुवनविदिते पुष्पकरावर्तकानाम्' बाद के श्लोक की पंक्ति 'नत्वं दृष्ट्वनपुनरलका ज्ञाससे कामचारिन :' से गडमड हो जाती है। पहले मुझे छंदोबद्ध ही नहीं बिना छंद की कविताएं भी बहुत याद थीं, पर अब उनके कुछ अंश, कुछ अवशेष, हवा में बहकर आये उनके झोंके ही याद आते हैं। जैसे एक बस्ती उजड़ गयी हो और मैं उसके खंडहर में रह रहा हूं। कभी-कभी मन में गीता के एक श्लोक का एक अंश याद आता है : 'स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशौ बुद्धि-नाशात्प्रणश्यतिः।' लेकिन मुझे उम्मीद है बुद्धि बची रहेगी। फ़िलहाल शायद मेरे दिमाग़ पर इतना बोझ है, मुझे एक साथ इतनी सारी चीज़ें याद रखनी पड़ती हैं, शायद लंबे समय का आर्थिक कष्ट है, शायद महत्वाकांक्षा की कमी है, शायद यह नौकरी की ऊब है, शायद यह अपनी इच्छा के विपरीत काम करते जाने का परिणाम है, शायद एक जैविक प्रकिया है, शायद दिमाग़ की 'ग्रे सेल्स' का धीरे-धीरे मरना है। चंद्रकुंवर बर्त्वाल की तरह, 'इस सुंदर घाटी में मेरा जीवन धीरे-धीरे मरता।' वैज्ञानिक कहते हैं एक उम्र के बाद मनुष्य के पास 'सेलेक्टिव मेमोरी' बची रहती है। यानी उसे याद रखने लायक़ चीज़ें ही याद रहती हैं, बाक़ी सब अवचेतन और अचेतन में चला जाता है।

विस्मृति के रहस्यों के बारे में महान स्पानी फ़िल्मकार लुइस बुन्वेल ने अपनी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आत्मकथा 'माइ लास्ट साइ' में कुछ अद्भुत चीज़ें लिखी हैं। बुन्वेल ने यह आत्मकथा जीवन के अंतिम वर्षों में अपनी फ़िल्मों के पटकथाकार ज़ां क्लोद कारिये की मदद से लिखी थी जब वे पूरी तरह बहरे हो चुके थे। उन्होंने अपनी विस्मृति की कुछ घटनाओं का उल्लेख करते हुए अपनी मां की स्मृतिहीनता का बहुत मार्मिक विवरण दिया है। जीवन के अंतिम दिनों में बुन्वेल की मां की याद्दाशत इस क़दर समाप्त हो गयी थी कि वे अपने परिवारजनों, बेटे-बेटियों को भी नहीं पहचानती थीं। बुन्वेल जितनी बार उनके कमरे में जाते वे मुस्करा देतीं। बुन्वेल उन्हें कोई पत्रिका पढ़ने के लिए देते तो वे भावहीन चेहरे और यांत्रिक ढंग से उसके पन्ने शुरू से आख़िर तक पलटतीं और फिर पहले पेज से पलटने लगतीं। वे न अक्षर पहचानती थीं न तस्वीरें और न उन्हें यह भान था कि उनके हाथ में कोई पत्रिका है। ऐसा ही व्यवहार उनका अपने बेटे-बेटियों के साथ था। बस भाव, विचार और स्मृति से रहित एक मुस्कान उनके चेहरे पर किसी को भी देखकर उभर आती थी। वे परिचय और अपरिचय के मानवीय घेरों से बाहर जा चुकी थीं। स्मृति और विस्मृति से परे दूसरे लोकों में। अपनी ही किसी जैविक स्मृति में। मृत्यु भी शायद ऐसी ही एक स्मृति है।

लेकिन जब तक अपरिचय है, परिचय भी है। उसकी संभावना, एक आहट, एक धुंधलका। धूमिल कांच से देखी गयी एक पहचान जो फ़ोकस में आने-आने को होती है। आती है और नहीं आती। और यह एक साथ घटित होता है। वह स्मृति और विस्मृति का प्रेम है, उनका मिलन स्थल, जहां वे साथ-साथ चलते हैं। बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की एक अद्भुत कविता जिसका अनुवाद कभी मैंने किया था :

'और कभी मैं बूढ़ा था और कभी जवान
सुबह को बूढ़ा और अंधेरा होने पर जवान
और कभी बच्चा था अपनी मायूसियां याद करता हुआ
और कभी बूढ़ा आदमी था अपनी ही नाम भूलता हुआ।'

शायद यही एक निराशा और यही एक आशा है। इसी के बारे में मुझे लिखते रहना होगा।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

एक हाशिया जो मुख्यभूमि है

अपने समय के बारे में लिखते हुए मैं असमंजस में हूं कि उसे अपने भीतर जाकर पहचानने की कोशिश करूं या अपने से बाहर निकलकर उस सामाजिक समय की तरफ़ जाऊं जिसे समझने में असमर्थ होकर हमारे पूर्वजों ने 'माया', 'मिथ्या', 'भ्रम' और 'लीला' जैसे विशेषणों से अभिहित किया है। अपने एक प्रिय कवि बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की एक कविता पंक्ति याद आती है : 'पहाड़ों की यातनाएं हमारे पीछे हैं/मैदानों की यातनाएं हमारे आगे।' अपने भीतर के आंतरिक समय में जाने का जोखिम यह है कि वहां अनेक दुर्गम जगहें हैं, बर्फ़, आग, प्रकाश और अंधकार के व्यूह हैं, अकेले चलते जाने की यातनाएं हैं, ऐसे अज्ञात अंतराल हैं जहां बहुत पुराना अंधेरा ठोस चट्टानी रूप ले चुका है और तब जाकर कहीं शायद कोई कोना है जो सबसे पवित्र और सबसे ज़्यादा नैतिक है। कबीर ने अपने एक पद में 'सांईं की परम अति सुंदर नगरी' के बारे में कहा है कि वहां न कोई जा सकता है न आ सकता है और न वहां चांद है न सूरज न हवा न पानी इसलिए कोई संदेश भी नहीं ले जा सकता। कबीर की यह 'सांईं की नगरी' हमारे समय में आध्यात्मिक नहीं बल्कि एक ऐसी आत्मिक जगह या उसका रूपक है जिसे हम अपने भीतर छिपाये रहते हैं, उसका भेद ख़ुद से भी नहीं बताते क्योंकि हम उससे डरते हैं। रूसी फिल्मकार आंद्रेइ तारकोव्स्की की प्रसिद्ध कृति 'स्टॉकर' में ऐसे ही एक स्थल का, एक 'ज़ोन' का चित्रण है जहां पहुंचने से पहले ही एक बीहड़ यात्रा के दौरान लेखक, बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक यानी श्रेष्ठतम व्यक्तित्वों का आंतरिक खोखलापन, उनका आत्माविहीन अस्तित्व उजागर हो जाता है।

लेकिन क्या आभ्यंतर समय के बाहर जो संसार है वह कुछ कम भयावह और सुगम है? वहां दो क़दम चलते ही आपको लोगों और चीज़ों की भीषण आपाधापी दिखाई देगी। तमाम लोग सबसे आगे सबसे पहले कहीं पहुंचने की हड़बड़ी में हैं। धूल, धुएं और शोर से बचने के लिए ऊबड़-खाबड़ सड़कों पर उन्होंने अपनी देशी-विदेशी कारों के शीशे चढ़ाकर अपनी 'व्यक्तिगत जगह' (प्राइवेट स्पेस) बना ली हैं और वे ख़ुश हैं और अपने समय की बुरी ख़बरों से बेख़बर उस रास्ते पर बढ़ रहे हैं जो उनकी निगाह में सफलता का रास्ता है। उपभोक्ता चीज़ों का एक विशाल बाज़ार जगमगा रहा है और उनमें ज़बर्दस्त प्रतिस्पर्धा है। कंप्यूटर, रंगीन टेलीविज़न, मोबाइल फ़ोन, सोने की हीरों-जड़ी घड़ियां और नाना प्रकार के जूते आपस में टकरा रहे हैं, एक-दूसरे पर गिरे पड़ रहे हैं। और ख़रीदारों की भीड़? उसका व्यवहार इस तरह है जैसे किसी युद्ध या आपात्काल की घोषणा होने

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वाली हो या यह सब ख़रीदने के लिए कुछ ही दिन बचे हों। वे एक-जैसे दिखते हुए लोग हैं और लगभग एक ही तरह की चीज़ों की ओर लपक रहे हैं। कहते हैं इस समय भारत के दस करोड़ लोगों के पास यूरोप के लगभग बीस करोड़ लोगों से ज़्यादा क्रय-शक्ति है और वे बहुराष्ट्रीय निगमों के विराट तंत्र के स्वागतकर्ता हैं हालांकि बहुराष्ट्रीय निगम उनसे बहुत ख़ुश नहीं हैं क्योंकि भारत का बाज़ार उनकी अपेक्षाओं के अनुसार बढ़ नहीं पा रहा है, ज़्यादा लाभ नहीं दे पा रहा है। दूसरी तरफ़ इसी देश के वे अस्सी या नब्बे करोड़ लोग हैं जिनके बारे में इस बाज़ार में हमें कोई सूचना नहीं मिलती कि वे कहां रहते हैं, क्या खाते-पहनते हैं, उनके परिवार किस हाल में हैं, वे कैसी बीमारियां झेलते और कैसी मौत मरते हैं, उनके बच्चों के भविष्य का क्या होता है और इस बाज़ार तंत्र पर क्या उनका भी कोई अधिकार कोई रिश्ता या कोई हिस्सेदारी है। दरअसल समाज के ताक़तवर लोगों ने हर स्तर पर अपनी समांतर व्यवस्थाएं बना ली हैं। साधारण स्कूल ख़राब हो चुके तो उन्होंने बहुत महंगे शानदार स्कूल खोल लिये हैं, आम अस्पतालों की दुर्गंध के समांतर आरामगाहों जैसे महकते नर्सिंग होम हैं, देसी सादगी के ख़िलाफ़ विदेशी ढंग का रहन-सहन और खानपान है और वे अपनी संतानों को सीधे अमेरिका जाने का स्वप्न दिखलाते रहते हैं। ये समांतर व्यवस्थाएं जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में सक्रिय हैं और इनसे बाहर छूट गये जनसमूह के भीतर लालच और ईर्ष्या को जन्म देती रहती हैं।

अपने भीतर जाने का डर और अपने बाहर बजबजाते बाज़ार और उसके पिछवाड़े अर्धमानवीय जीवन जीते अधिसंख्य लोगों तक पहुंचने की बाधाओं के बीच मैं एक तरक़ीब—और हम शायद तरक़ीबों के ही युग में रह रहे हैं—यह अपनाता हूं कि इन दोनों के बीच कोई बिंदु कोई जगह खोजता हूं जहां से दोनों समय पूरे नहीं तो कुछ-कुछ दिखते रहें और अगर वे कहीं एक-दूसरे में प्रवेश कर रहे हों तो उस आवाजाही को भी मैं देख सकूं। यह बीच की कोई जगह है, एक हाशिया, एक 'नो-मैंस लैंड' जहां मैं आंतरिक समय का व्यापार करने से भी बच सकता हूं और बाहरी समय का ख़रीदार होने से भी। बाज़ारवाद के इस दौर में अनेक सुधीजन अपने आंतरिक संसार को भी ख़रीद-फ़रोख़्त की चीज़ बना लेते हैं।

1970 के आसपास जब मैं अपने जैसे कई लोगों की तरह लगभग भागा हुआ, लगभग विस्थापित दिल्ली शहर में रोज़ी-रोटी और एक ज़्यादा बड़ी दुनिया की तलाश में आया तो वह पहाड़ की यातनाओं का पीछे छूटना और मैदानों की यातनाओं का शुरू होना था। वह एक बड़े संक्रमण का, एक बड़ी हलचल का दौर था। इसे नेहरू युग और मध्यवर्ग के महास्वप्न के टूटने का ऐतिहासिक समय कहा जाता था। लेकिन यह महास्वप्न हम जैसे पढ़ने-लिखने वाले लोगों के छोटे-छोटे सपनों में बंट गया था। हम लोग हमेशा इस उम्मीद में रहते थे कि शायद एक चमत्कार अगले ही पल घटित होगा और चीज़ें बदल जायेंगी। हम देखी-जानी हुई चीज़ों पर बहस और विवाद करते और उन चीज़ों पर भी जो हमने देखी नहीं होती थीं। मेरे पास अपने पहाड़ी गांव की, माता-पिता के चेहरों पर उभरती

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

झुर्रियों की, एक असफल प्रेम और एक स्वप्निल-सी जगह की स्मृतियां और शायद पहाड़ी हवा जैसी कुछ कविताएं थीं और हम व्यवस्था को बदलने की या कम से कम उसे बदलने के सपने को जीवित रखने की उम्मीद करते थे। हमने कुछ राजनीतिक काम किये, बेरोज़गारी, फ़ाक़ाक़शी और कातरता के बावजूद या शायद इसी वजह से रातों को जागते हुए हमने एक अमानवीय तंत्र को उखाड़ फेंकने के पोस्टर शहर की दीवारों पर चिपकाये और काफ़ी दूर तक मुक्ति का स्वप्न देखने वाले कई बहुत अच्छे और सुंदर लोगों का साथ दिया। धीरे-धीरे स्मृतियों का रंग ज़र्द होने लगा, सपने पीठ फेरकर जाने लगे और एक पहाड़ जो हमारे भीतर था पिघलता गया। यह जैसे एक भयानक दुनिया में पुनर्जन्म लेने की तरह था।

मुझे उन लेखकों से कुछ ईर्ष्या-भरी ख़ुशी होती है जो जीवन-भर एक लेखक की तरह लिख पाते हैं। हमारी पिछली पीढ़ी में कई महत्त्वपूर्ण नाम ऐसे मिल जायेंगे, लेकिन हमारी पीढ़ी के लिए यह संभव नहीं हुआ। दुर्भाग्य यह रहा कि उसे समाज से, एक सामूहिक चेतना से कोई ज़्यादा पोषण नहीं मिला क्योंकि तब तक रचना एक विशिष्ट, निर्वैयक्तिक और कुछ-कुछ समाजेतर कर्म बना दी गयी थी, टी.एस. एलियट द्वारा प्रस्थापित भुक्तभोगी और रचनाकर्मी, अनुभव और अभिव्यक्ति की दो अलग-अलग कोटियों को हिंदी कविता में काफ़ी मान्यता मिल गयी थी और यह कहा जा रहा था कि आधुनिक कविता लोगों को जोड़ने की बजाय उन्हें अलग करने का काम भी कर सकती है, वह पुल की बजाय अवरोध भी बन सकती है। कितना अच्छा होता कि मैं सचमुच एक कवि की तरह कोई कविता लिख सकता। कुछ शब्द इस तरह लिखे जैसे कोई नौकर लिखता है या कभी सड़क पार करते हुए बची हुई जान की तरह लिखा या अपनी छोटी-बड़ी निराशाओं से ही कुछ उम्मीद करते हुए लिखा या एक विस्थापित की तरह लिखा जिसे हर वक़्त अपने सर पर एक गठरी का एहसास रहता है और जो बार-बार पलटकर अपना घर देखना चाहता है। कभी इस तरह लिखा जैसे अपने शरीर से विच्छिन्न कोई अकेला हाथ लिखता है या जैसे कोई पत्ता पेड़ से गिरने से पहले अपना रंग छोड़ता है। ग़नीमत यह है कि यह सब मैंने मनुष्य के ही रूप में लिखा और मनुष्य होने में न कोई आत्मदया है और न आत्महीनता। मैं यह भी जान सका कि कविता सिर्फ़ एक हाशिये की कार्रवाई रह गयी है, उसकी बहुत ज़रूरत नहीं महसूस की जाती और शायद कभी नहीं की जाती थी और कवि लोग इस व्यवस्था के नियंता नहीं हैं हालांकि उन्हें उसका शिकार होने से भी हमेशा इनकार करना चाहिए और यह हाशिया ही हमारी मुख्यभूमि हमारा मोर्चा है क्योंकि यह हाशिया एक निरीह लाचार कलपती रिरियाती जगह नहीं है। मेरे पूर्वज, संस्कृत के अनेक महाकवि और फिर रीतिकालीन लोग जो राज्याश्रयों में रहे, कविता के बदले स्वर्णमुद्राएं पाते थे और उनका काफ़ी समय सम्राटों की उदात्तता और वीरता के गुणगान में बीता। लेकिन तब भी उनकी रचनाओं में कहीं वह अंतर्द्वंद्व दर्ज़ है जो सत्ता या प्रतिष्ठान और सच्चे रचनाकार के बीच हमेशा रहता है। सत्तातंत्र और रचना के उद्देश्य ही एक-दूसरे के विपरीत हैं। बहुत

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पहले मैंने 'दिनमान' में किसी अंग्रेज़ कवि-पत्रकार का कथन पढ़ा था कि जब कोई राजनेता कहता है कि सुबह हो गयी है तो मैं समझ जाता हूं कि रात है और मैं सोने चला जाता हूं।

एक विचारक का कहना है कि कहीं कोई और है जो मेरा जीवन जी रहा है जिसे मैं नहीं जानता। इसे कुछ पलटकर इस तरह कहा जा सकता है कि पता नहीं यह किसका या किन-किन का जीवन है जो मैं जी रहा हूं। मैं रोज़ अच्छी तरह भोजन करके घर से निकलता हूं क्योंकि भोजन एक बुनियादी क़िस्म की सुरक्षा है और हमारे पहाड़ी घरों में हर अतिथि से सबसे पहले यही पूछा जाता है कि आपने भोजन किया या नहीं। मैं जानता हूं मेरे हाथ में कोई हथियार नहीं और उम्र बिना लड़े बीत रही है फिर भी रोज़ दिन-भर किसी युद्ध से लड़कर लौट आने का एहसास होता है जिसमें बचे रहना और विवेकपूर्ण ढंग से बचे रहना ही विजय है। दिल्ली और कुछ जगहों में भी मैंने अपने कई संघर्षशील साथियों को दिमाग़ी संतुलन खोते, जिसे पागल कहा जाता है वह होते हुए और आत्महत्या करते हुए देखा है। वे कवि, बुद्धिजीवी और अपने समय के सबसे संवेदनशील लोगों में से थे। क्या उन्होंने आत्महत्या की या उन्हें इस तंत्र के द्वारा मार डाला गया जो एक मनुष्य के जीवन पर अपने अनेक जीवन लादता रहता है और यह चाहता है कि अगर आप उसकी दी हुई-बनायी हुई ज़िंदगी को अपना लें, उसे अपना जीवन मानने में अहोभाग्य समझें तो आपको यह तंत्र स्वीकृत कर लेगा ? मसलन आप अपने तरीक़े से जीने का आग्रह छोड़ दें, आपके कोई विचार या प्रतिबद्धता हो तो उससे दूर चले जायें, अपनी पहचान को इस व्यवस्था के हवाले कर दें तो आप तकलीफ़ों से मुक्त रहेंगे। मसलन आप रचना करना छोड़ दें या ख़राब कविता लिखने लगें या नये-पुराने धनाढ्य वर्ग के अति-सेवन से पैदा हुई कई तरह की शारीरिक-मानसिक बदहज़मियों से उन्हें निज़ात दिलाने वाली घटिया हास्य कविता लिखने लगें तो आपको जीवन में मसलन रुपये-पैसे की कमी का सामना नहीं करना पड़ेगा। आज आप देखिए कि यथास्थितिवादी दृष्टिकोण के लोग संसार के सबसे सुखी और सफल लोग माने जाते हैं। लेव तोल्स्तोय के उपन्यास 'पुनरुत्थान' में एक प्रसिद्ध उक्ति है कि यह व्यवस्था समाज से कुछ लोगों को चुनकर अपने में शामिल करती है, उन्हें भ्रष्ट बनाती है और उन्हें फिर समाज में भेज देती है ताकि वे शेष समाज को भी अपनी तरह का बना सकें।

मैं इस बात पर गहराई से विश्वास करना चाहता हूं कि रचना-विरोधी सत्तातंत्र के बरक्स रचना का मूल काम उसके जीवन को बचाये रखना है। मनुष्य पर जितने भी भौतिक-सांस्कृतिक-मानसिक और आत्मिक आक्रमण हैं उन्हें झेलते हुए उनका प्रतिरोध करते रहना उसकी अंतर्निहित शर्त है। वह ताक़त के विरुद्ध ताक़त का विमर्श नहीं बल्कि एक तोप की बग़ल में रखी हुई एक छोटी-सी पेंसिल जैसी उपस्थिति है। मेरे जो मित्र अपने जीवन से विमुख होकर चले गये वे शायद कहीं न कहीं व्यवस्था के दबावों के आगे हार गये थे हालांकि वे जानते थे कि रचना का जीवन किसी भी सत्तातंत्र के जीवन से ज़्यादा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दीर्घजीवी और सार्थक है। आलोकधन्वा की एक कविता 'ब्रूनो की बेटियां' की अंतिम पंक्तियों का आशय कुछ इस तरह है कि राजा और रानियां मिट जाती हैं, उनकी तलवारें और मुकुट गल जाते हैं, लेकिन फ़सल काटने वाली औरतें फ़सल काटती रहती हैं। रचनात्मक कार्रवाई का मूल चरित्र हत्या और आत्महत्या का विरोधी है। यह मैं कोई नयी बात नहीं कह रहा हूं। हमारे समय के एक प्रमुख कवि रघुवीर सहाय कविता को पागल होने और आत्महत्या करने से बचने के लिए ज़रूरी कार्रवाई मानते थे।

क्या मैं अपने समय को सरलीकृत रूप में देख रहा हूं और एक बुनियादी और आख़िरी उम्मीद के बीच उपस्थित तमाम रंगों को अनदेखा कर रहा हूं? 1970 के शुरू में जब प्रसिद्ध चित्रकार जगदीश स्वामीनाथन 'हिंदी पैट्रियट' के संपादक थे तो उन्होंने मुझे पहली नौकरी अपने पत्र में दी थी। उनके विचित्र-से कमरे में कवि हरिवंश राय बच्चन की एक कविता-पंक्ति मोटे-मोटे हरुफ़ों में लिखी हुई थी : 'समय मुझको नष्ट करता/मैं समय बर्बाद करता'। नंगे पैर, लुंगी पहने, बाल बढ़ाये और बीड़ी पीते स्वामीनाथन की क़रीब दस मिनट लंबी ख़ामोशी में मैं इन पंक्तियों को कुछ आश्चर्य और कुछ भय के साथ देखता रहा था और फिर सिर्फ़ एक वाक्य— 'आप कल से काम करने लगिए'—उनके मुंह से निकला था और मेरा जीवन एकाएक नये रास्ते पर आ गया था। आज स्वामीनाथन नहीं हैं, पर होते तो समय के उस दार्शनिक-से खिलवाड़ के नये अर्थ भी देखते कि इस आधुनिक उपभोक्ता साम्राज्य में कौन किसको नष्ट कर रहा है। मेरे दो-चार समझदार मित्र कहते हैं कि अभी और बाज़ार होगा, हर चीज़, हर संबंध और सबसे नैतिक और कोमल भावना भी बाज़ार में बदलेगी। सचमुच का नवपूंजीवाद होगा जिसमें अनुत्पादक पूंजी और क्रय-विक्रय की अर्थव्यवस्था का और भी डंका बजेगा और शायद उसके बाद कोई विस्फोट हो। फ़िलहाल हमारे जीते-जी दुनिया ऐसी होगी जैसी रघुवीर सहाय ने कई वर्ष पहले कल्पित की थी कि 'कविता न होगी साहस न होगा/एक और ही युग होगा/जिसमें ताक़त ही ताक़त होगी/और चीख़ न होगी।' बेशक हम लोग जिस समय में रह रहे हैं उसमें उम्मीद और आश्वस्ति देने वाली जगहें या ऐसे काम या ऐसी भाषा बहुत सिकुड़ती चली गयी है। पिछले कई वर्षों से चारों ओर सड़कों पर बसों में टीवी सीरियलों और फ़िल्मों में और यहां तक कि सामान्य व्यवहार में हमें कैसी भाषा सुनाई दे रही है? यह भाषा 'मार दिया', 'जला दिया', 'बदला ले लिया', 'धूल चटा दो', 'जाने न पाये', 'बचने न पाये' की डरावनी आवाज़ों से भरी हुई है। इसमें अशिष्टता और मनुष्य के प्रति घृणा और ताक़त की जयकार का प्रवेश हो चुका है। बाज़ार की इस भाषा ने राजनीति से लेकर हमारे अनुष्ठानों तक में हस्तक्षेप कर लिया है। इसी भाषा में धर्म के नाम पर सांप्रदायिकता और घृणा के कुरूप चेहरे भी दिखते हैं और जो हिंदी कभी संघर्ष और ग़रीब जन की एकता की भाषा थी वह धीरे-धीरे नीतिविहीन, 'अमॉरल' हो गयी है। वह सत्ताओं और व्यवस्थाओं को संबोधित है। सरकारी स्तर पर यह भाषा अपना कारोबार ज़ोरों से चलाये हुए है। यह वह हिंदी है जो सरकारी अनुवादों में, बैंक की पासबुकों, हवाई जहाज़ के टिकटों और दफ़्तरी कामकाज में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
अपठनीय और दुर्बोध होती है, कई हिंदीभाषी विदेशी द्वीपों में धार्मिक कर्मकांड के साथ प्रचारित की जाती है और अपने घर में छोटी भाषाओं को दबाती हुई अंग्रेज़ी की छोटी बहन बनी हुई उसे मिलने वाली सुविधा और संपत्ति में बराबर का हिस्सा मांगती है। इसी हिंदी के भव्य भवन बनते हैं।

ज़ाहिर है मेरी कविता इस हिंदी की कविता नहीं है। वह कोई दूसरी या तीसरी हिंदी है जो अपने संघर्ष को बचाकर रखने के लिए चिंतित है। मैं कविता में यह लड़ाई लड़ना चाहूंगा कि बाज़ार, हिंसा और घृणा से खोखली हो रही अपनी भाषा को मानवीय और संघर्षशील बनाये रखूं ताकि वह आश्वस्ति दे सके कि दुनिया अभी पूरी तरह नष्ट नहीं हो गयी है, कि उपभोक्ता साम्राज्यवाद ने सब कुछ लील नहीं लिया है और सांप्रदायिक और दूसरे उन्मादों के विरुद्ध एक विवेकपूर्ण प्रेम और शांति अब भी बची है। मैं चाहूंगा कि बुरे शब्द अच्छे शब्दों को कभी बेदख़ल न कर पायें।

लेकिन एक ऐसे दौर में क्या इस आशावाद का सचमुच कोई अर्थ है जबकि बाज़ार जो कि रचना का सबसे बड़ा विरोधी है हमारे चारों ओर हावी हो रहा हो? यह बाज़ार अपने अलावा किसी दूसरे विचार को, उसकी बहुलता की उपस्थिति स्वीकार नहीं करता। कुछ वर्ष पहले संयोगवश कुछ अमेरिकी शहरों में रहते हुए मैंने देखा कि अनेकानेक जातीयताओं से बना वह देश किस तरह बहुलतावाद का विरोधी है। आम लोगों की तरह वहां के रचनाकारों का जीवन और यथार्थ से संबंध एक विराट डिब्बाबंद बाज़ार और पुश-बटन या टच-बटन तकनीक की ही मार्फ़त संभव हो पाता है। मनुष्य को संवेदनों और आवेगों तक पहुंचने के लिए कारों कंप्यूटरों अत्यंत कारगर संचार-प्रणाली सैकड़ों टीवी चैनलों और स्लॉट मशीनों का सहारा लेना होता है या फिर इससे आजिज आकर वे ज़ेन-बौद्ध या भारतीय आध्यात्मिक प्रेरणाओं के साथ सुदूर पहाड़ों और समुद्रतटों की ओर अल्पज्ञात जगहों में रहने लगते हैं और कभी जब वहां से निकलकर शहरों में आते हैं तो हैरत से देखते हैं कि अमेरिका कितना बदल गया है और सी.एन.एन. चैनल ईराक़ पर अमेरिकी आक्रमण को इतनी विज्ञापनी क़िस्म की मज़ेदारी के साथ दिखा रहा है कि आप बीयर पीते हैमबर्गर खाते हुए उसे देख सकते हैं या फिर विश्व सौंदर्य प्रतियोगिता में विजयी और रक्तरंजित क्रोएशिया की एक सुंदरी एक आलीशान पार्टी में एक पत्रकार के सवाल के जवाब में मुस्कराते हुए कह रही है कि उसे नहीं मालूम कि वह इस पार्टी के बाद जीवित भी रहेगी या मार दी जायेगी। एक अमेरिकी रेस्तरां में मैंने एक प्रेमी जोड़े को—आशा है वे पति-पत्नी रहे होंगे—गलबहियां डाले एक-दूसरे से लिपटे हुए आते देखा। उन्होंने प्रेम से खाना खाया और फिर काउंटर पर अपना बिल अलग-अलग चुकता करके जिस तरह आये थे उसी मुद्रा में चले गये। अमेरिकी उपभोक्तावाद अपने कई मिथकों के साथ हमारे शहरों-क़स्बों-गांवों में भी छा गया है। क़रीब पच्चीस घरों के मेरे गांव में जहां पांच-छह घरों में टेलीविज़न सेट हैं और लोग बाज़ार पर बहुत निर्भर नहीं हैं वे भी केवल पर 'बे-वाच' और 'सैंटा बारबरा' देखने को अभिशप्त हैं। उपभोक्ता संसार उनके जीवन

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

को उन्हीं के घरों में धीरे-धीरे विस्थापित कर रहा है।

यह बाज़ार अपने आलोचकों को भी अपना शिकार बनाता है। चीज़ों को एकरस-एकरूप बनाना यानी होमोजेनाइज़ेशन इस बाज़ार का मूल विचार है। उसे मनुष्यों, अनुभूतियों और भावनाओं की एकरूपता पसंद है। अपना अलग कथ्य, रूप, शैली और बर्ताव रखने वाली चीज़ों को वह सहन नहीं कर पाता इसलिए उन्हें जज़्ब करने की कोशिश करता रहता है। क्या इक्कीसवीं सदी में मनुष्यता से हमारे संबंध उपभोक्तावाद के रास्ते ही संभव होंगे ? अपने लोगों तक पहुंचने के लिए कवि को बाज़ार का सहारा लेना होगा ? रचनात्मक लोगों को व्यापक यथार्थ से काटने के लिए बाज़ार को एक हथियार बनाया जा सकता है। तब आपकी मित्रता उनसे ही हो पायेगी जो आपके जैसा कंप्यूटर या आपके जैसे जूते या आपके जैसा साबुन इस्तेमाल करते हों और वही आपका समाज होगा और वह विविधता, अनेकता और सांस्कृतिक उपस्थितियों का विरोधी होगा। यह बाज़ार राजनीति को भी नियंत्रित करता है। पिछले कुछ वर्षों में हमारे समाज में ताक़तवर हुए कुछ सांप्रदायिक राजनीतिक संगठन अपने से अलग अस्मिता रखने वाले व्यक्तियों या समूहों को सहन नहीं कर पाते हैं और उनका इस उपभोक्ता बाज़ार से एक गुपचुप समझौता है, बल्कि उनमें से कई इस अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार के भारतीय वाहक भी हैं। अब किसी समाज पर सैटेलाइट चैनलों, जींस, कोला पदार्थों और हैमबर्गरों के ज़रिये भी क़ब्ज़ा किया जा सकता है।

सभ्यता की उत्तर-संरचनात्मक अवधारणाएं बतलाती हैं कि यह विपर्ययों का युग है और चीज़ें अपनी निर्धारित भूमिका से विचलित हो रही हैं। नये युग की आंधी ने उनकी चूलें हिला दी हैं। मसलन ताक़त और प्रसिद्धि के विमर्श को लीजिए : हमारी राजनीति में ताक़त की पहचान यह है कि आप किसका कितना बिगाड़ कर सकते हैं, कितनी निर्मिति नहीं बल्कि कितना विनाश करने की क्षमता आप में है। बड़े-बड़े धूर्त्त और शोषक हमारे समय में बहुत प्रसिद्ध हैं। अतिसंपन्न लोगों के मुस्कराते चेहरों को इस तरह प्रचारित किया जाता है गोया वे बहुत मानवीय चेहरे हों और उनका कोई विकल्प न हो। अमिताभ बच्चन और चार्ल्स शोभराज की प्रसिद्धि के कारण चाहे अलग हों उसका स्तर लगभग समान है। माइकल जैक्सन और बाल ठाकरे की शोहरत में हम कला और क्रूरता का विचित्र मेल देख सकते हैं। मनुष्यता और पशुता या तो एक ही घर में या फिर अगल-बग़ल अच्छे पड़ोसियों की तरह रहती हैं। प्रसिद्धि की इस विचित्र गति के ऊलजलूल उदाहरण गिनेस और लिम्का आदि की रिकॉर्ड बुक्स में भी मिलते हैं जिनमें मीलों उल्टा या सर के बल चलने वाले, कई फुट लंबे नाख़ुन उगाने वाले लोग अजब तरीक़े से प्रसिद्ध हैं। दूसरी ओर जो राजनीति कभी समाज को बदलने का वैचारिक दर्शन थी आज शुद्ध तिकड़म और भ्रष्टाचार में तबदील हो गयी है। सुसंस्कृत माने गये कई राजनेताओं का भ्रष्टाचार अंग्रेज़ों के जमाने की लूटपाट की याद दिलाता है। क्या यह सचमुच एक नये युग का आगमन है जिसमें हम सांस्कृतिक स्तर पर अमेरिकी उपनिवेश बन चुके हैं और आंतरिक उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया तो हमारे समाज में काफ़ी समय से जारी है। क्या इसकी तुलना 1857 से की जा सकती है जब

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दिल्ली पर अंग्रेज़ों के अधिकार और औपनिवेशिक सभ्यता के आगे समपर्ण करती सामंती सभ्यता को, चीज़ों की भूमिका में उलट-पुलट के उस दौर को मिर्ज़ा ग़ालिब ने बहुत विडंबना के साथ दर्ज किया था : 'आशिक़ हूं मैं माशूक़-फ़रेबी है मेरा काम/मजनूं को बुरा कहती है लैला मेरे आगे।'

पोलैंड के प्रसिद्ध फ़िल्मकार आंद्रेइ वायदा की आत्मकथा 'डबल विज़न' में एक फ़िल्म की शूटिंग का प्रसंग है। शूटिंग के दौरान एक अभिनेता की एक स्त्री से मुलाक़ात होती है जो जल्दी ही प्रेम में बदल जाती है और स्त्री एक दिन उस अभिनेता को एक विशाल बहुमंज़िला हाउसिंग कांप्लैक्स के अपने फ़्लैट में ले जाती है जहां वे रात बिताते हैं और अगली सुबह अभिनेता अपनी प्रेमिका के जागने से पहले उसके लिए स्वादिष्ट नाश्ता तैयार करके उसे चौंकाने और ख़ुश करने की नीयत से बाज़ार की ओर जाता है लेकिन लौटकर अपनी प्रेमिका तक नहीं पहुंच पाता क्योंकि हाथों में नाश्ते का सामान थामे हुए वह एक-जैसे समरूप फ़्लैटों के उस विशाल जंगल में भटकता रह जाता है और भूल जाता है कि वह किस फ़्लैट से उतरा था। एकरूपता के समुद्र में वह और उसका प्रेम दोनों खो चुके हैं।

यह प्रकरण हमें अभी सिर्फ़ दिलचस्प लग सकता है हालांकि इसके भयावह यथार्थ में बदलने में ज़्यादा देर नहीं है। एकरूपीकरण का यह समुद्र हमारे समाज में बढ़ा चला आ रहा है। निर्वैयक्तिक, निस्संग एक-सा-पन। यह प्रेम के खोने का समय है। यह वह समय है जब अपनी जगहों तक पहुंचने के रास्ते मिटने लगते हैं, पुकारों-प्रार्थनाओं का जवाब नहीं आता और मनुष्य के आंतरिक समय पर बाहरी समय का, प्रेम पर बाज़ार का, सच्चे अध्यात्म पर नक़ली धर्म-प्रतीकों का, एक सहज मानवीय ग्लानि पर हिंदू होने के तथाकथित गर्व का आक्रमण तेज़ होने लगता है और बाहर प्रदर्शन-प्रिय आधुनिकता, कथित धार्मिकता और बाज़ार-प्रक्रिया के स्थूल चिह्नों और भीतर 'सरवाइवल ऑफ़ द फ़िटेस्ट' की आदिम मनोवृत्ति में गहरी मित्रता होने लगती है।

और भाषा, विचार और संस्कृति की दुनिया में क्या हो रहा है ? वहां भी कई बड़ी दुर्घटनाएं हम देखते हैं। उम्मीद की जाती थी कि बाज़ार के 'तुमुल कोलाहल' के बीच या उससे परे वह एक ऐसी जगह होगी जहां धैर्य, सहिष्णुता, शांति और सुंदरता की आवाज़ सुनी जा सकेगी। बेशक उस बड़े-से कमरे में एक तख़्ती टंगी है जिस पर लिखा है : 'यह सौंदर्य और शांति का घर है।' लेकिन तख़्ती के दूसरी तरफ़ यह भी लिखा मिलेगा कि 'कृपया शांति बनाये रखें।' यहां ख़ासी भीड़ है, आपाधापी है, बैठे हुए लोग टस से मस नहीं हो रहे हैं और जिन्हें बैठने की जगह नहीं मिली वे धक्कामुक्की कर रहे हैं और वही आसन्न युद्ध से पहले की ख़रीदारी का आलम है गोकि ख़रीदने के लिए ख़ास कुछ नहीं है। सतह पर काफ़ी संवाद होता दिखता है, पर वह अंततः एकालाप होकर रह जाता है और लोग सार्थकता नहीं, छोटी-छोटी सफलताएं खोजने में जुट जाते हैं। यहां ख़ूब किताबें छप रही हैं, अनेक पत्रिकाएं निकल रही हैं और उनमें छपे शब्दों की तादाद बढ़ रही है,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

चर्चाएं-गोष्ठियां ज़ोरों पर हैं और तब भी सब हैरान हैं कि ऐसी कोई सौंदर्यशास्त्रीय या समाजशास्त्रीय या नैतिक बहसें नहीं बन पा रही हैं जो हमारे समय के सच्चे सार्थक विमर्श हो सकें। कभी पढ़ी हुई एक कवि की एक यह पंक्ति अक्सर याद आती है : 'देखो प्रिये, इतने सारे कवि और इतनी कम कविता!'

कई शब्द हैं जिन पर हमें गहरा विश्वास था और जो अब अपारदर्शी होकर अपने अर्थ देना बंद कर चुके हैं। मनुष्यता, प्रतिबद्धता, अच्छाई, गरिमा, सरलता ऐसे ही शब्द हैं, इन्हें पुनर्जीवित करने, फिर से सार्थकता देने के लिए शायद किसी महाकवि या गद्य-सम्राट् को जन्म लेना पड़ेगा बशर्ते उसका जन्म संभव रह गया हो। वे साधारण शब्द जो कभी जीवन और मानव-संबंधों की असाधारण गहराइयों-ऊंचाइयों को नापने के संवेदित सूत्र थे, हमसे छूट गये लगते हैं या उनकी राख हमारे हाथ में बची है। सत्ता-राजनीति में सबसे बुरी चीज़ों का वर्णन करने में सबसे अच्छे शब्द काम आते हैं, कलात्मक भाषा व्यवसाय की भाषा बन गयी है, प्रतिभा और रचनात्मकता घटिया उपभोक्ता चीज़ों के विज्ञापन बनाने में लगी है, प्रेम और स्वार्थ प्राय: एक ही अर्थ देते हैं और यह कहना कठिन है कि अच्छाई के घर में बुराई किसी पुश्तैनी सामान की तरह बैठी है या बुराई के यहां अच्छाई एक मेहमान की तरह टिकी हुई है। कविता किसी तरह लड़खड़ाती आधे रास्ते तक चलती है, संगीत का दम शुरू में ही घुटने लगता है, कला चेहरे पर तरह-तरह के रंग पोतती हुई अपनी जर्जरता छिपाती है और नाटक अपने अंत से पहले एक बड़े-से मुखौटे की तरह मंच पर गिर पड़ता है। कुछ लोगों का कहना है कि हमारी बीसवीं सदी दम तोड़ने जा रही है, उसके अवसान के साथ ही उसके विचारों और बहसों का अंत आसन्न है और चिंता की कोई बात नहीं है क्योंकि अब हम इक्कीसवीं सदी में ही अपने नये विचार प्रस्तुत करेंगे! मुझे सहसा काफ़्का की एक कहानी याद आती है जिसमें एक चूहा अपने अगल-बग़ल दीवारों के लगातार पास आने के एहसास से भयभीत होकर भागता हुआ अंतत: एक कमरे में पहुंचता है जहां दरवाज़े पर बैठी एक बिल्ली से वह बाहर निकलने का रास्ता पूछता है तो बिल्ली जवाब देती है कि रास्ता तो है लेकिन वह मेरे मुंह से होकर जाता है और यह कहकर वह चूहे को खा जाती है। सर्वसत्तावाद का यह काफ़्काई रूपक वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार व्यवस्था के रूपक में बदल गया है और विचार और संस्कृति के कमरे में भी बैठा हुआ है।

क्या कोई ऐसा रास्ता है जो इस बाज़ार तंत्र के बाहर से जाता हो? 'भारत के जन' शीर्षक एक सर्वेक्षण बतलाता है कि हमारे वैविध्यमय समाज में कोई 4635 समुदाय हैं जिनकी अपनी विशिष्ट जीवन-शैलियां हैं। बाज़ार की भाषा—वह अंग्रेज़ी हो या हिंदी—के बरक्स करीब 325 भाषाओं का अस्तित्व है और 25 ऐसी लिपियां हैं जो अभी जीवित हैं। क्या इस बहुलता में हमारी दुनिया के बच सकने की आश्वस्ति निहित है? या फिर क्या सौंदर्य इस संसार को बचायेगा, जैसा कि दॉस्तोयेव्स्की का मानना था? या स्त्रियां और उनके भीतर यथार्थ और स्वप्न की संगुंफित समग्रता को थामे रखने की सामर्थ्य इसे बचा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सकेगी ? क्या संगीत इस संसार को बचाये रखेगा ? मैं लौटकर दिन भर की थकान को एक झिल्ली की तरह उतारता हूं और 'आज़ाद' भारत के सबसे बड़े शास्त्रीय गायक अमीर ख़ां का एक टेप चलाता हूं (संयोगवश इतनी सुविधा मुझे जीवन में मिल गयी), बागेश्री या पूरिया कल्याण की कोई बंदिश इस तरह स्पंदित कर देती है जैसे बंद पड़े, सोते हुए पानी में एकाएक नयी लहरें प्रवेश करती हैं। इस आवाज़ में इतनी शराफ़त इतना गुरुत्व है कि मैं उसे पार्श्वसंगीत की तरह नहीं सुन सकता, वह मुझे चारों ओर से घेर लेती है। मैं देखता हूं कहीं दूर या शायद मेरे ही भीतर कोई हल्की-सी कांपती हुई रोशनी है या कहीं नीला रंग है या कोई चौड़ा हरा मैदान है और मेरी सांसों के आने-जाने की आहट है। फ़र्श पर या मेज़ पर या अपनी आत्मा में कहीं कोई गंदगी मुझे दिखायी देती है। मैं उसे साफ़ करता हूं या कोई किताब निकालता हूं जिसे मैंने पढ़ा नहीं है जिसके कोने रखे-रखे ही मुड़ गये हैं और जिसे खोलते ही शब्दों में जीवन शुरू हो जायेगा। 'पहाड़ों की यातनाएं' मेरे पीछे का मेरा आभ्यंतर समय है और 'मैदानों की यातनाएं' मेरे आगे का बाहर का समय है और यह एक हाशिया है जहां मैं हूं और जो फ़िलहाल इतना संवेदित है कि यही मेरी मुख्यभूमि है जहां से मैं शमशेर बहादुर सिंह की कविता में व्यक्त 'एक लंबे नाटक की/हंसी/फैली हुई/दर्शकशाला के इस छोर से उस छोर तक/लहराती कटु-क्रूर' को भी देख सकता हूं और 'मेरी पीठ को खुरचते/समय के बारीक़ तारों' को भी छू सकता हूं। क्या यह वह समय है जब मनुष्य एक साथ प्रसन्न और निराश होता है, वह बाहरी समय और बाज़ार के हाथों ठगे जाने, धोखा खाने को तैयार रहता है और अपने भीतर प्रेम के किसी अदृश्य हाथ की ओर अपना निर्जन हाथ बढ़ाता है ? क्या यह ऐसा समय है जब मनुष्य की निजी नैतिकता एक सार्वजनिक मानवीय राजनीति का लगभग पर्याय बन जाती है ?

मैं जानता हूं कि मैं अपने समय को नहीं जानता या उसे जानने की कोशिश में ही पूरा समय बीत जायेगा। मैं चाहता हूं मेरी छोटी-छोटी निराशाएं बची रहें जो मुझे समय का सामना करने की सामर्थ्य देती चलती हैं। मैं अपने स्वतंत्र मार्क्सवादी विश्वासों को इस एहसास के बावजूद बचाये रखना चाहता हूं कि संगठनात्मक सांस्कृतिक वामपंथ इसे हास्यास्पद मानता है। मैं ग़ालिब की इस विडंबना को बचाकर रखना चाहता हूं कि 'मैं वह शख़्स हूं जो ख़ुद तो भीख मांगता है पर दूसरे को भीख मांगते हुए नहीं देख सकता।' मैं महाकवि शमशेर के इस साहस का भी शुक्रिया अदा करना चाहता हूं : 'काल, तुझसे होड़ है मेरी! अपराजित तू —/तुझमें अपराजित मैं...'

('कथादेश' पत्रिका के 'मैं और मेरा समय' स्तंभ में प्रकाशित; मई 1997)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मंगलेश डबराल

जन्म : 16 मई 1948; टिहरी गढ़वाल ज़िले के काफलपानी गांव में। करीब चौबीस वर्ष पहले दिल्ली आकर 'हिंदी पेट्रियट', 'प्रतिपक्ष' और 'आसपास' में काम करने के बाद भोपाल में 'पूर्वग्रह' के सहायक संपादक। छह साल इलाहाबाद और लखनऊ से प्रकाशित 'अमृत प्रभात' में साहित्य संपादक। 1983 से दैनिक 'जनसत्ता' में।

अब तक तीन कविता संग्रह 'पहाड़ पर लालटेन' (1981), 'घर का रास्ता' (1988), 'हम जो देखते हैं' (1995) और एक यात्रा डायरी 'एक बार आयोवा' (1996) प्रकाशित। ओंप्रकाश स्मृति सम्मान (1982), श्रीकांत वर्मा पुरस्कार (1989), शमशेर सम्मान (1995) और पहल सम्मान (1996)। राजस्थान के शिक्षक कवियों की कविताओं के संग्रह 'रेतघड़ी' का संपादन। विश्व कविता से बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, हांस माग्नुस ऐंत्सेंसबर्गर (जर्मन), यानिस रित्सोस (यूनानी), ज़्बीग्नीयेव हेर्बेत, तदेउष रूज़ेविच (पोल्स्की), पाब्लो नेरूदा, ऐर्नेस्तो कार्देनल (स्पानी), डोरा गाबे, स्तांका पेंचेवा (बल्गारी) आदि की रचनाओं के अनुवाद। जर्मन उपन्यासकार हरमन हेस्से के उपन्यास 'सिद्धार्थ' और बांग्ला कवि नवारुण भट्टाचार्य के संग्रह 'यह मृत्यु उपत्यका नहीं है मेरा देश' के सह-अनुवादक।

प्रायः सभी भारतीय भाषाओं के अलावा अंग्रेज़ी, रूसी, जर्मन, स्पानी, पोल्स्की और बल्गारी आदि विदेशी भाषाओं में कविताओं के अनुवाद प्रकाशित। कुछ अंग्रेज़ी अनुवाद डेनियल वाइसबोर्ट और अरविंदकृष्ण मेहरोत्रा द्वारा संपादित 'पेरीप्लस', वाइसबोर्ट और गिरधर राठी द्वारा संपादित संग्रह 'सरवाइवल' और के. सच्चिदानंदन द्वारा संपादित 'जेस्चर्स' और 'सिग्नेचर्स' में संकलित। 1988 में बल्गारिया और तत्कालीन चेकोस्लोवाकिया की यात्रा। 1991 में तीन महीने अमेरिका में आयोवा विश्वविद्यालय में इंटरनेशनल राइटिंग प्रोग्राम की फ़ेलोशिप और कुछ शहरों की यात्रा। 1996 में तीन दिन मॉस्को की यात्रा। साहित्य, सिनेमा, संचार माध्यम और संस्कृति के सवालों पर नियमित लेखन। एक कविता संग्रह शीघ्र प्रकाश्य।

संपर्क : एल 46 ए, मालवीय नगर, नयी दिल्ली 110017

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh. Funding IKS-MoE 2025

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आ

आधार प्रकाशन

पंचकूला (हरियाणा)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant